

प्रश्न १ : णमोकार मंत्र पढ़ने की सही पद्धति क्या है ?

उत्तर : णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्जायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

इसप्रकार इस णमोकार मंत्र को समयसार आदि की गाथाओं के समान गाकर पढ़ना ही इस मंत्र को पढ़ने की सही पद्धति है ।

प्रश्न २ : इस मंत्र को पढ़ने की यही पद्धति सही क्यों है ?

उत्तर : वास्तव में यह णमोकार मंत्र षट्खण्डागम ग्रन्थ का मंगलाचरण है; प्राकृत भाषामय गाथा छंदरूप पद्य में निबद्ध है, गाथा छंद मात्रिक छंद है; पद्य शैली में पढ़ने पर ही शब्दाचाररूप शब्दों-मात्राओं का सही उच्चारण हो पाता है, अन्यथा नहीं ।

‘णकार’ बहुल प्राकृत पद्य को गाकर पढ़ने से स्वरयंत्र भी सहज ही विशेष सक्रिय हो जाता है; अतः गाकर पढ़ने की पद्धति ही इसे पढ़ने की सही पद्धति है ।

प्रश्न ३ : इसे पंच णमोकार मंत्र क्यों कहते हैं ?

उत्तर : इसमें अत्यन्त संक्षिप्त, सुव्यवस्थित, सुन्दर विचारमय शब्दों द्वारा अरहन्त आदि पाँच पदों को नमस्कार किया गया होने के कारण इसे पंच णमोकार मंत्र कहते हैं ।

प्रश्न ४ : इस मंत्र के और क्या-क्या नाम हैं ?

उत्तर : इस मंत्र के अनादिनिधन मंत्र, महा मंत्र, मूल मंत्र, अपराजित मंत्र इत्यादि अनकों नाम हैं ।

प्रश्न ५ : अर्थ को स्पष्ट समझने की दृष्टि से इस मंत्र को कैसे पढ़ें अर्थात् इस गाथा का अन्वय कैसे लगाएँ ?

उत्तर : णमो लोए सव्वअरहंताणं, णमो लोए सव्वसिद्धाणं, णमो लोए सव्व-आइरियाणं, णमो लोए सव्वउवज्जायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं— इसप्रकार विस्तृत कर इसे पढ़ना चाहिए अर्थात् यह इसका अन्वय है ।

प्रश्न ६ : अर्थ करते समय 'लोए' और 'सव्व' शब्द को प्रत्येक के साथ क्यों लिया गया है ?

उत्तर : 'लोए' और 'सव्व' शब्द अन्त्य दीपक हैं। जैसे अन्तिम स्थान पर रखे गए दीपक का प्रकाश उससे पूर्व के सभी स्थानों पर पड़ता है; उसी प्रकार अन्त में होने के कारण ये दोनों शब्द प्रत्येक के साथ लिए गए हैं।

प्रश्न ७ : इस मंत्र के रचयिता कौन हैं ?

उत्तर : आचार्य धरसेनस्वामी द्वारा ज्ञान-प्राप्त, प्रथम श्रुतस्कन्ध के आद्य-प्रणेता आचार्य पुष्पदंत इस मंत्र के रचयिता हैं।

प्रश्न ८ : जब इस मंत्र के रचयिता आचार्य पुष्पदंत हैं, तब फिर यह मंत्र अनादिनिधन कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यद्यपि इस शब्दात्मक णमोकार मंत्र के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त होने के कारण यह सादिसान्त मंत्र है; तथापि इसे अनादिनिधन मंत्र कहने में निम्नलिखित कारण हैं—

१. इसमें जिन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, वे परम्परा की अपेक्षा अनादिनिधन हैं; अतः इस मंत्र को भी अनादिनिधन मंत्र कहा जाता है।

२. उन पंचपरमेष्ठी पुरुषों के उपासक/आराधक भी अनादिनिधन हैं; अतः इसे अनादिनिधन मंत्र कहते हैं।

३. इन सभी का आधारभूत शुद्धात्मा तथा विश्वव्यवस्था-वस्तु-व्यवस्था भी अनादिनिधन सुव्यवस्थित विद्यमान होने के कारण यह मंत्र अनादिनिधन मंत्र कहलाता है।

इत्यादि अनेक कारणों से इसे अनादिनिधन मंत्र कहते हैं।

प्रश्न ९ : इस मंत्र का क्या अर्थ है ?

उत्तर : लोक में स्थित सभी अरहन्तों को नमस्कार हो, लोक में स्थित सभी सिद्धों को नमस्कार हो, लोक में स्थित सभी आचार्यों को नमस्कार हो, लोक में स्थित सभी उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में स्थित सभी साधुओं को नमस्कार हो।

प्रश्न १० : णमोकार मंत्र को सभी मंगलों में पहला मंगल और महा मंत्र क्यों कहा गया है ?

उत्तर : इसमें सम्पूर्ण पापों से रहित तथा शाश्वत सुख को प्राप्त और उस मार्ग पर चलनेवाले भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन सभी जीवों को निष्काम भाव

से नमस्कार किया गया होने के कारण, पुण्य बंध का कारण होने से इसे पहला मंगल, महामंगल कहते हैं।

इसे महामंत्र कहने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

(अ) इस मंत्र में सर्वाधिक पद, अक्षर तथा मात्राएँ अर्थात् पाँच पद, पैंतीस अक्षर और सत्तावन मात्राएँ होने से, इसे महामंत्र कहते हैं।

(ब) इसमें महान शुद्धात्म-तत्त्व के आश्रय से प्रगट हुए महान पंचपरमेष्ठी पदों को नमस्कार किया गया होने से, इसे महामंत्र कहते हैं।

(स) भारतीय संस्कृति में याचक/भिरखारी वृत्ति को सबसे बुरा माना गया है। हिन्दू-संस्कृति में सन्तकवि तुलसीदासजी तो यहाँ तक लिखते हैं—

“तुलसी कर पर कर करो, करतल कर न करो।

जा दिन करतल कर करो, ता दिन मरण करो ॥

स्वयं को सम्बोधित करते हुए तुलसीदासजी लिखते हैं कि सदा दूसरों के हाथ के ऊपर अपना हाथ करना अर्थात् सदा देने का भाव रखना; दूसरों के हाथके नीचे अपना हाथ कभी भी नहीं करना अर्थात् माँगने का भाव कभी भी नहीं करना। जिस दिन माँगने का भाव आ जाय उस दिन मर जाना; परन्तु माँगना नहीं।”

मुस्लिम कवि रहीमदासजी इस संदर्भ में अपने भाव इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

“रहिमन वे नर मर गए, जे नर माँगन जाँय।

उनसे पहले वे मरे, जिन मुख निकसत नाँय ॥

जो मनुष्य दूसरों से माँगने जाते हैं, उन्हें मृत ही समझो तथा माँगने वाले व्यक्ति के प्रति जिनके मुख से 'नहीं है'—ऐसा निकलता है, उन्हें उससे भी पहले मरा हुआ समझो।”

जैन कवि इस संदर्भ में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

“अयाचीक जिनधर्म है, जैनी याचँ नाहिं।

जैनी बन याचक भये, ते ठगिया जग माँहि ॥

जिनेन्द्र भगवान का धर्म अयाचीक/नहीं माँगनेवालों का धर्म है; जैनी याचना नहीं करते हैं। यदि कोई जैनी बनकर भी याचना करता है तो उसे जगत में ठगनेवाला ठग समझना।”

तात्पर्य यह है कि समस्त भारतीय संस्कृतिओं में 'याचना' को सर्वाधिक बुरा कार्य माना गया है। भगवान से भोगों की भीख माँगनेवाला तो दूर ही

रहो; भगवान से मोक्ष माँगनेवाला भी वास्तव में भगवान का भक्त नहीं, विराधक माना जाता है; अतः जिस मंत्र में किसी भी प्रकार से कुछ भी नहीं माँगा गया हो, वह महामंत्र कहलाता है।

इत्यादि अनेक कारणों से णमोकार मंत्र 'महामंत्र' कहलाता है।

प्रश्न ११ : णमोकार मंत्र को मूल मंत्र क्यों कहते हैं ?

उत्तर : निम्नलिखित कारणों से णमोकार मंत्र को मूलमंत्र कहते हैं—

१. यह सभी मंत्रों का मूल आधार होने से अर्थात् अन्य सभी मंत्र इसमें से ही निकले होने से, इसके माध्यम से ही बने होने से, इसे मूलमंत्र कहते हैं।

२. पंचपरमेष्ठी धर्म के मूल आधार स्तम्भ हैं। इस मंत्र में उन्हें नमस्कार किया गया होने से, यह मूलमंत्र कहलाता है।

३. पंचपरमेष्ठी रूप अवस्थाओं का मूल आधार ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा है। समस्त विश्व को जाननेवाला भी यह आत्मा ही है; अतः समस्त पदार्थों में से आत्मा को मूल कहा जाता है। उसके आश्रय से प्रगट परमेष्ठी दशाओं को इसमें नमस्कार किया गया होने से यह मंत्र भी मूलमंत्र कहलाता है। — इत्यादि अनेक कारणों से इसे मूलमंत्र कहते हैं।

प्रश्न १२ : परमेष्ठी कितने व कौन-कौन हैं ?

उत्तर : परमेष्ठी पाँच हैं; वे इसप्रकार— अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

प्रश्न १३ : ये परमेष्ठी क्यों कहलाते हैं ?

उत्तर : परम (सर्वोत्कृष्ट) पद में स्थित होने के कारण तथा परम इष्ट/सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जाने के कारण और दूसरों को भी परम इष्ट के कारण होने से, ये पाँच परमेष्ठी कहलाते हैं।

राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि कोई भी लौकिक पद सुखमय तथा स्थाई न होने के कारण परम पद नहीं हैं; अतः हमारे लिए इष्ट नहीं हैं। जो परम इष्ट है, वह परमेष्ट है। दुःखों का विनाश और सुख की प्राप्ति ही हमारा परमेष्ट/उत्कृष्ट प्रयोजन है; उसके मार्गदर्शक होने से ये परमेष्ठी कहलाते हैं।

वास्तव में तो सिद्धपद ही एकमात्र परम पद है। अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय, साधुपद सिद्धपद की प्राप्ति के मध्य में आने के कारण परम पद कहे जाते हैं। इन पदों में स्थित जीव परमेष्ठी कहलाते हैं। (परमेष्ठी संबंधी विशेष चर्चा आगे बालबोध पाठमाला, भाग ३ के दूसरे पाठ में आएगी।)

प्रश्न १४ : णमोकार मंत्र के स्मरण से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर : इस मंत्र के स्मरण से अनेकों लाभ हैं, उनमें से तीन मुख्य हैं; वे निम्न-लिखित हैं—

१. सभी पापों का नाश होता है। २. मोह-राग-द्वेष का अभाव होता है। ३. सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रश्न १५ : ये तीन लाभ किस अपेक्षा से बताए गए हैं ?

उत्तर : णमोकार मंत्र पर श्रद्धा रखने वाले प्रायः तीन प्रकार के जीव इस जगत में पाए जाते हैं। वे इसप्रकार हैं—

१. एक प्रकार के जीव तो वे हैं जो इसे मात्र श्रद्धा पूर्वक मन लगाकर पढ़ते-सुनते या स्मरण करते हैं; परन्तु इस संबंधी अन्य कुछ भी जानकारी उन्हें नहीं होती है।

२. दूसरे प्रकार के जीव वे हैं जो इसे श्रद्धापूर्वक मन लगाकर पढ़ने-सुनने या स्मरण करने के साथ-साथ इसमें नमस्कार किए गए महापुरुषों के जीवन-चरित्र को, उनके पूर्वभवों को अथवा उन संबंधी कथा-कहानियों को भी जानते हैं।

३. तीसरे प्रकार के जीव वे हैं जो उपर्युक्त दोनों के साथ-साथ पंच-परमेष्ठियों के स्वरूप को भी जानते हैं।

यह मंत्र इन तीनों प्रकार के जीवों को लाभदायक होने के कारण अर्थात् सभी परिस्थितियों में सभी जीवों को लाभदायक होने के कारण तीन प्रकार के लाभों की चर्चा की गई है।

प्रश्न १६ : 'णमोकार मंत्र के स्मरण से सभी पापों का नाश होता है'—इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : पंचपरमेष्ठियों के जीवन-चरित्र आदि से अनभिज्ञ जब कोई जीव इस मंत्र को मात्र श्रद्धापूर्वक मन लगाकर पढ़ते-सुनते या स्मरण करते हैं; उस समय उनके मन में किसी भी प्रकार के हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, विषय-कषाय, सात व्यसन आदि रूप पाप भाव उत्पन्न नहीं होते हैं। जीवन्धर कुमार द्वारा सुनाए गए णमोकार मंत्र को मन लगाकर सुनने वाले कुत्ते के समान। यहाँ सभी पापों का अर्थ तीनकालवर्ती सभी पापों से नहीं है; अपितु हिंसा आदि सभी पाप हैं। जितने समय तक यह जीव पंचपरमेष्ठियों के स्मरण

आदि में अपने मन को लगाएगा, उतने समय तक हिंसा आदि सभी पापों से बचा रहेगा – यही यहाँ सभी पापों के नाश का अर्थ है।

प्रश्न १७ : णमोकार मंत्र के स्मरण आदि से मोह-राग-द्वेष आदि का अभाव होता है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : इस मंत्र का श्रद्धापूर्वक मन लगाकर स्मरण आदि करनेवाला कोई जीव जब पंचपरमेष्ठियों के जीवन-चरित्रों को, पूर्वभवों को जानता है; तो उसे उनके द्वारा निम्नलिखित पाँच तथ्यों की स्पष्ट जानकारी होती है –

१. जीव को स्वयं किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है, अन्य के कर्मों का नहीं। अन्य कोई इसे सुखी-दुखी नहीं कर सकता।

२. पहले किए हुए पाप के उदय से जीव अभी पापी नहीं होता, पूर्वकृत पुण्योदय से अभी पुण्यात्मा नहीं होता; अपितु अभी होनेवाले पुण्य-पापमय शुभाशुभ भावों से पुण्यात्मा या पापी होता है; इसी प्रकार वर्तमान के धर्म परिणाम से धर्मात्मा है; अतः बाह्य परिस्थितियों, संयोगों, लौकिक सुख-सुविधाओं आदि से धर्मात्मा, पुण्यात्मा या पापी कहना अनुचित है।

३. पहले किसी जीव ने कितने भी बुरे कार्य किए हों; परन्तु आज यदि वह उन्हें छोड़कर अच्छे कार्य करता है तो अच्छा बन जाता है; पापी से पुण्यात्मा, धर्मात्मा बन जाता है। इतना ही नहीं, भील से भगवान, शेर से सिद्ध, मारीचि से महावीर बन जाता है।

४. विषय-भोगों में, बाहर की सुविधाओं-असुविधाओं में, अनुकूल-ताओं/प्रतिकूलताओं में रंचमात्र सुख-दुःख नहीं है। अपने आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, मानकर, उसमें ही लीनता सुखमय तथा सुख का कारण है।

५. विविध दशाओं में रहता हुआ यह जीव अनादि-अनन्त है। अन्य जीवों के साथ बननेवाले नाते-रिश्ते सतत बदलते रहते हैं। जब तक यह जीव बदलती हुई दशाओं में मुग्ध होकर शुभाशुभ भावों में उलझा रहता है, तब तक चारों गतिओं में घूमता हुआ दुःख ही दुःख भोगता है और जब स्वयं को अनादि-अनन्त स्वीकार कर शुभाशुभ भावों से भिन्न अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होता है, तब संसार से पार सिद्धदशा प्राप्त करता है।

पंचपरमेष्ठियों के जीवन-चरित्र से, पूर्वभवों से इन पाँच तथ्यों की जान-

कारी हो जाने के कारण दूसरों के प्रति होनेवाले मोह-राग-द्वेष के परिणाम नष्ट हो जाते हैं। सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को अपने ही पूर्वकृत कर्मोदय का परिणाम समझकर उसमें समताभाव बनाए रखने का सतत प्रयास रहता है। इसी आधार पर शुभाशुभ भावों से भिन्न शुद्ध स्वभाव में लीनता की भावना प्रबल होती है।

इस प्रकार णमोकार मंत्र के स्मरण से मोह-राग-द्वेष का अभाव होता है।

प्रश्न १८ : णमोकार मंत्र के स्मरण से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : इस मंत्र का श्रद्धापूर्वक मन लगाकर स्मरण आदि करनेवाला, उन परमेष्ठियों के जीवन-चरित्रों, पूर्वभवों को जाननेवाला कोई जीव, जब उनके स्वरूप को भी जान लेता है, तब उसे यह ज्ञात होता है कि वास्तव में ये तो मात्र आत्माश्रित अवस्थाएँ हैं। ज्ञानानन्द स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें ही लीन/विशेष स्थिर होने से उत्पन्न हुई ये पाँच दशाएँ हैं। ऐसा निर्णय कर इन पदों की प्रगटता-हेतु जो अपने स्वरूप में लीन होता है, वह सम्यग्ज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्पन्न बोधिलाभमय हो जाता है।

इस प्रकार णमोकार मंत्र के स्मरण से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रश्न १९ : वास्तविक सुख की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर : जो जीव पंच परमेष्ठियों के स्वरूप को समझकर, उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलता है अर्थात् उन जैसे परिपूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावी अपने आत्मा में स्थिर होता है, वह उन जैसा ही हो जाता है अर्थात् संसार संबंधी मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों, चिंताओं, आकुलताओं से छूटकर; वह सम्पूर्ण दुःखों से पूर्ण मुक्त, शाश्वत, वास्तविक, स्वाधीन सुख को प्राप्त कर लेता है।

वास्तविक सुख को प्राप्त करने का एकमात्र यह ही उपाय है। ०००

होहु मेरी ऐसी दशा

अरहन्त सिद्ध सूर उपाध्याय साधुसर्व, अर्थके प्रकाशी मांगलीक उपकारी हैं।
तिनको स्वरूप जान राग तैं भई जो भक्ति, काय को नमाय स्तुति को उचारी है॥
धन्य-धन्य तुमही से काज सब आज भये, कर जोरि बार-बार वन्दना हमारी है।
मंगल कल्याण सुख ऐसो हम चाहत हैं, होहु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है॥

प्रश्न १ : 'चत्वारि मंगल पाठ' शुद्ध लिखिए।

उत्तर : चत्वारिमंगलं—अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्वारि लोगुत्तमा—अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्वारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

प्रश्न २ : णमोकार मंत्र में आचार्यों, उपाध्यायों को पृथक्-पृथक् नमस्कार करने के समान मंगल आदि में भी उन्हें पृथक्-पृथक् क्यों नहीं लिया गया है?

उत्तर : आचार्य और उपाध्याय भी साधु होने से उन्हें संक्षिप्त रूप में साधु पद में गर्भित कर लेने के कारण यहाँ उन्हें पृथक् से नहीं लिया गया है।

प्रश्न ३ : आचार्य आदि पद सामान्य साधु पद से श्रेष्ठ होने पर भी उन्हें साधु पद में क्यों गर्भित कर लिया गया है?

उत्तर : आचार्य आदि व्यावहारिक दृष्टि से साधु पद की अपेक्षा श्रेष्ठ होने पर भी उन्हें निम्नलिखित कारणों से साधु पद में गर्भित किया गया है—

१. सभी आचार्य और उपाध्याय साधु तो होते ही हैं; क्योंकि साधु हुए बिना ये पद प्राप्त ही नहीं होते; परन्तु सभी साधु आचार्य, उपाध्याय नहीं होते—इस प्रकार साधु कहने से इन सभी का ग्रहण हो जाने के कारण तथा आचार्य या उपाध्याय कहने पर सभी का ग्रहण नहीं हो पाने के कारण, उन्हें साधु पद में गर्भित कर लिया है।

२. वीतरागता की पूर्णता का अवसर अर्थात् अपनी भूमिका में आगे बढ़ने का, उन्नति का अवसर साधु पद में ही है; जिम्मेदारी वाले पद होने के कारण आचार्य, उपाध्याय पद में नहीं। यहाँ तक कि सल्लेखना भी इन पदों का त्याग कर सामान्य साधु बनने पर ही होती है—इस प्रकार आत्मोन्नति की दृष्टि से साधु पद श्रेष्ठ होने के कारण साधु में आचार्यादि को गर्भित किया है।

३. साधु पद मोक्षमार्ग का अनिवार्यतम पद है, आचार्य आदि हुए बिना भी मोक्ष हो जाता है; परन्तु साधु हुए बिना कभी भी मोक्ष नहीं हो सकता; अतः मंगल आदि में साधु को मुख्य रखकर आचार्यादि को उसमें ही गर्भित कर लिया है।

४. ये तीनों ही अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, साधु एक समान ही घर-गृहस्थी की झंझटों को छोड़कर, विषय-कषाय से रहित परम वैरागी, ज्ञान-ध्यान में लीन, शुद्धोपयोगरूप अर्थात् आत्मलीनतामय साधु धर्म के धारक हैं। समवसरण सभा में भी इन तीनों को एक ही स्थान प्राप्त है; अतः मंगल आदि में भी एक साधु पद ही रखा।

इत्यादि अनेक कारणों से आचार्य, उपाध्याय को साधु पद में गर्भित किया है।

प्रश्न ४ : 'अरहंत', 'सिद्ध', 'साहू' को 'अरहंता', 'सिद्धा', 'साहू' क्यों लिखा गया है?

उत्तर : 'अरहंत', 'सिद्ध', 'साधु' दशा को प्राप्त जीव तीनकाल की अपेक्षा अनन्त होने से उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग बहुवचन में किया जाने के कारण 'अरहंता' आदि शब्दों का प्रयोग है।

प्रश्न ५ : 'अरहंता' आदि के समान 'केवलिपण्णत्ता धम्मा' रूप शब्द क्यों नहीं रखे, 'केवलिपण्णत्तो धम्मो' शब्द क्यों रखे गए हैं?

उत्तर : समस्त केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म वीतरागमय एक ही होने से, उसका प्रयोग एकवचन में किया जाने के कारण 'केवलिपण्णत्तो धम्मो' शब्द का प्रयोग हुआ है; 'केवलिपण्णत्ता धम्मा' रूप बहुवचन का प्रयोग नहीं हुआ है।

प्रश्न ६ : सभी केवली भगवानों द्वारा कहा गया धर्म एक ही क्यों है? उसका प्रयोग एकवचन में क्यों किया जाता है?

उत्तर : निम्नलिखित कारणों से सभी केवली भगवानों द्वारा कहा गया धर्म एक है और उसका प्रयोग एकवचन में किया जाता है—

१. रागादि विकारी भाव और अज्ञानता के कारण कथन में विविधता होती है। सभी केवली भगवान इन दोनों से रहित, पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हैं; अतः उनके द्वारा बताया गया धर्म एक है।

२. वास्तव में प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव ही उसका अपना-

अपना धर्म है। स्वभाव अनादि-अनन्त अपरिवर्तनीय होता है। आत्म-स्वभाव के आश्रय से प्रगट वीतरागता ही आत्मा का सार्वकालिक-सार्व-भौमिक धर्म है। सभी केवली भगवान इस सत्य सनातन वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहते हैं; अतः उनके द्वारा निरूपित धर्म एक ही है।

३. धर्म का पालन सदा अपना-अपना वैयक्तिक ही होता है। परस्पर लेन-देन का, हस्तक्षेप आदि का यहाँ कोई अवकाश नहीं है; अतः धर्म शब्द का प्रयोग एकवचन में ही होता है।

इत्यादि अनेक कारणों से केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म एक होने के कारण, उसका प्रयोग एकवचन में किया जाता है।

प्रश्न ७ : 'चत्वारि सरणं पव्वज्जामि' में 'सरणं' शब्द क्यों रखा? 'सरणे' शब्द क्यों नहीं रखा ?

उत्तर : गमनार्थक आदि धातुओं में 'प्र' आदि उपसर्ग लग जाने पर अधिकरण रूप में सप्तमी विभक्ति न रहकर कर्म कारक रूप में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होने से 'सरणे' शब्द न रखकर 'सरणं' शब्द रखा गया।

प्रश्न ८ : 'मंगल' शब्द का शब्दशः विश्लेषण कीजिए।

उत्तर : 'मंगल' शब्द का विश्लेषण निम्नलिखित दो प्रकार से हो सकता है—
१. मंग=पाप, गल/गालयति=नष्ट करता है; जो मोह, राग, द्वेषरूपी पापों को नष्ट करता है, वह मंगल है।

२. मंग=सुख, ल/लाति, राति, ददाति/देता है; जो वास्तविक सुख देता है/उत्पन्न करता है, वह मंगल है।

अर्थात् जो पापों को नष्ट करता है और सुख उत्पन्न करता है, उसे मंगल कहते हैं।

प्रश्न ९ : अरहंतादि स्वयं मंगलमय क्यों हैं ?

उत्तर : अरहंतादि के जीवन में हिंसादि सभी पापों का, क्रोधादि विषय-कषायों का तथा भूख आदि सभी दोषों का अभाव हो जाने के कारण और शाश्वत अतीन्द्रिय आनन्दमय दशा प्रगट हो जाने के कारण, वे स्वयं मंगलमय हैं। साधु भी इसी पथ पर चल रहे होने के कारण, स्वयं मंगलमय हैं।

प्रश्न १० : अरहंतादि की भक्ति से जीवों का परम मंगल कैसे होता है ?

उत्तर : अरहंतादि की भक्ति में मन लग जाने पर उस समय हिंसादि पापभाव

उत्पन्न नहीं होते और उनके द्वारा बताए गए उपाय को अपनाने से हम स्वयं उन जैसे ही बन जाते हैं; यही उन जैसे बनने रूप सर्वोत्कृष्ट दशा, परममंगल है; अतः अरहंतादि की भक्ति से हम जीवों का परम मंगल होता है।

प्रश्न ११ : अरहंतादि उत्तम क्यों हैं?

उत्तर : अरहंतादि पूर्णतया पर से निरपेक्ष होने के कारण किसी को स्वयं प्रभावित नहीं करने के कारण, किसी से प्रभावित नहीं होने के कारण तथा अपने आत्म-वैभव से सर्वाधिक वैभवशाली होने के कारण सर्वाधिक महान, उत्तम हैं।

प्रश्न १२ : अरहंतादि ही शरणरूप क्यों हैं?

उत्तर : जगत की प्रत्येक वस्तु स्वयं से परिपूर्ण स्वतंत्र-स्वाधीन है। उसे अन्य की रंचमात्र भी अपेक्षा, आवश्यकता नहीं है।—ऐसा जानकर, मानकर स्वयं में ही लीन हो जाने से अरहंतादि ने शाश्वत ज्ञानानन्दमय पद प्राप्त कर लिया है; तथा वे हमें भी सतत शाश्वत स्वयं के ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थिर रहने का संदेश दे रहे हैं। शाश्वत पदार्थ का सहारा ही हमें असहाय, अनाथ होने से बचाता है—इस प्रकार अरहंतादि शाश्वत होने के कारण हमें परम शरणभूत हैं।

प्रश्न १३ : पंच परमेष्ठी की शरण में जाने का अर्थ क्या है ?

उत्तर : पंच परमेष्ठियों द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर आत्मा की शरण लेना ही पंच परमेष्ठी की शरण में जाने का अर्थ है। जब हम अरहंतादि की शरण में जाते हैं, उनके स्वरूप का विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि सब ही अपने-अपने आत्मा की शरण लिए हुए हैं; अर्थात् सभी अपने-अपने आत्मा में स्थिर हैं; इसलिए परमेष्ठी हैं, ज्ञानानन्दमय हैं।

ऐसा जानकर, मानकर जब हम भी अपने ज्ञानानन्दमय प्रभु परमात्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसकी शरण में जाते हैं, उसमें ही लीन/स्थिर होते हैं, तो हम भी उन जैसे बन जाते हैं। उन जैसे बन जाना या उन जैसे बनने का उपाय सीखकर, वैसे बनने का पुरुषार्थ करने लगना ही अरहंतादि की शरण में जाने का अर्थ है।

प्रश्न १४ : 'पंच परमेष्ठी की शरण में जाने वाले का कल्याण होता है'—इसका क्या अर्थ है?

उत्तर : जो जीव पंच परमेष्ठी की शरण में जाता है, उनके स्वरूप का विचार

करता है, उसे उन जैसे अपने आत्मा का ज्ञान होता है। अपने आत्मा में लीन रहने के प्रयास से वैराग्य की वृद्धि होती है, सांसारिक विषय-कषाय के भाव नष्ट होने लगते हैं। पूर्ण स्वरूपलीन होने पर सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों का अभाव होकर उन जैसी ही परमकल्याणमय शाश्वत सुख-रूप दशा प्रगट हो जाती है; भवभ्रमण का, जन्म-मरण का अभाव होकर सिद्ध दशा प्रगट हो जाती है।

इस प्रकार पंच परमेष्ठी की शरण में जाकर, परम कल्याणस्वरूप अपने आत्मा के आश्रय से कल्याणमय सिद्ध दशा प्रगट हो जाना ही, उनकी शरण में जानेवाले के कल्याण होने का अर्थ है।

इस प्रकार पंच परमेष्ठी की शरण में जाने से आत्महित होता है। ०००

करने-योग्य क्या-क्या?

आतम हित ही करने योग्य, वीतराग प्रभु भजने योग्य।
सिद्ध स्वरूप ही ध्याने योग्य, गुरु निर्ग्रन्थ ही वंदन योग्य ॥१॥
साधर्मी ही संगति योग्य, ज्ञानी साधक सेवा योग्य।
जिनवाणी ही पढ़ने योग्य, सुनने योग्य समझने योग्य ॥२॥
तत्त्व प्रयोजन निर्णय योग्य, भेद-ज्ञान ही चिन्तन योग्य।
सब व्यवहार है जानन योग्य, परमारथ प्रगटावन योग्य ॥३॥
वस्तुस्वरूप विचारन योग्य, निज वैभव अवलोकन योग्य।
चित्स्वरूप ही अनुभव योग्य, निजानंद ही वेदन योग्य ॥४॥
अध्यातम ही समझने योग्य, शुद्धातम ही रमने योग्य।
धर्म अहिंसा धारण योग्य, दुर्विकल्प सब तजने योग्य ॥५॥
श्रीजिनधर्म प्रभावन योग्य, ध्रुव आतम ही भावन योग्य।
सकल परीषह सहने योग्य, सर्व कर्म मल दहने योग्य ॥६॥
भव का भ्रमण मिटाने योग्य, क्षपक श्रेणी चढ़ जाने योग्य।
तजो अयोग्य करो अब योग्य, मुक्तिदशा प्रगताने योग्य ॥७॥
आया अवसर सब विधि योग्य, निमित्त अनेक मिले हैं योग्य।
हो पुरुषार्थ तुम्हारा योग्य, सिद्धि सहज ही होवे योग्य ॥८॥

प्रश्न १ : भगवान किन्हें कहते हैं?

उत्तर : जो वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं, उन्हें भगवान कहते हैं। भगवान शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है—भ, ग और वान। भ=सुख/आनन्द, ग=ज्ञान, वान=सम्पन्न; अर्थात् ज्ञानानन्द से सम्पन्न आत्मा को भगवान कहते हैं।

प्रश्न २ : वीतरागी किन्हें कहते हैं?

उत्तर : जो मोह, राग, द्वेष आदि सम्पूर्ण विकारी भावों से पूर्णतया रहित होते हैं; अर्थात् जो किसी से, कहीं भी, कभी भी, किसी भी परिस्थिति में प्रभावित नहीं होते; तथा किसी को, कहीं भी, कभी भी, किसी भी परिस्थिति में प्रभावित नहीं करते; जो सदा पर से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतंत्र, स्वाधीन, आत्म-संतुष्ट रहते हैं; उन्हें वीतरागी कहते हैं।

प्रश्न ३ : सर्वज्ञ किन्हें कहते हैं?

उत्तर : जो किसी की भी रंचमात्र अपेक्षा किए बिना, सहायता लिए बिना, अपनी सामर्थ्य से ही, सम्पूर्ण लोक-अलोक सम्बन्धी त्रिकालवर्ती पदार्थों को अत्यन्त पृथक्-पृथक् एक-दूसरे में मिलाए बिना, पदार्थों के समीप गए बिना, पदार्थों को अपने समीप बुलाए बिना, अपने आपमें स्थिर रहते हुए ही, एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं; उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं।

प्रश्न ४ : पाँच परमेष्ठियों में से कितने परमेष्ठी भगवान या देव हैं?

उत्तर : यद्यपि सामान्य रूप से पाँचों ही परमेष्ठियों को भगवान या देव कह देते हैं; तथापि विशेष विवक्षा में इसका विश्लेषण दो प्रकार से किया जाता है—

१. जो परमेष्ठी हमें पढ़ाते हैं, उपदेश देते हैं, जिनसे हम कुछ सीखते हैं, जो हमारे बीच रहते हैं; वे गुरु कहलाते हैं; शेष सभी देव हैं; इस विवक्षा में अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये चारों परमेष्ठी गुरु हैं। एकमात्र सिद्ध परमेष्ठी भगवान या देव हैं।

२. जो पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञ होते हैं, वे भगवान या देव कहलाते हैं। इस विवक्षा में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी भगवान या देव हैं। शेष आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये तीन परमेष्ठी गुरु हैं।

इसप्रकार सिद्ध परमेष्ठी भगवान; अरहन्त परमेष्ठी भगवान और गुरु दोनों; तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं।

प्रश्न ५ : तीर्थकर किन्हें कहते हैं?

उत्तर : जो धर्म-तीर्थ का अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं; समवसरण आदि विभूति से सहित होते हैं और जिनके तीर्थकर नामकर्म नामक महान पुण्य का उदय होता है, उन्हें तीर्थकर कहते हैं।

प्रश्न ६ : तीर्थकर भगवान और सामान्य भगवान में क्या अन्तर है?

उत्तर : तीर्थकर भगवान और सामान्य भगवान में निम्न अन्तर है—

तीर्थकर भगवान	सामान्य भगवान
१. भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में एक काल सम्बन्धी चौबीस ही होते हैं।	सामान्य भगवान अनेक होते हैं।
२. सभी तीर्थकर नियम से भगवान होते हैं।	सभी भगवान तीर्थकर नहीं होते हैं।
३. तीर्थकर मात्र कुछ अरहन्त ही होते हैं, सिद्ध परमेष्ठी तीर्थकर नहीं हैं।	भगवान अरहन्त और सिद्ध दोनों परमेष्ठी हैं।
४. तीर्थकरत्व वीतरागता आदि के साथ रहने वाले कर्मोदय का फल है।	भगवानपनापूर्णतया आत्माश्रित अवस्था है।
५. तीर्थकर परमौदारिक शरीर सहित ही होते हैं, शरीर रहित नहीं।	भगवान शरीर सहित व रहित दोनों होते हैं। अरहन्त भगवान शरीरसहित हैं, सिद्ध भगवान शरीररहित हैं।
६. तीर्थकर मात्र चार घातिकर्मों से रहित होते हैं। चार अघाति कर्मों से तो सहित ही हैं।	भगवान चार घातिकर्मों से रहित भी होते हैं तथा आठों कर्मों से रहित भी होते हैं।
७. तीर्थकर मात्र मनुष्य लोक में ही रहते हैं।	भगवान यहाँ भी रहते हैं और सिद्ध-लोक में भी रहते हैं।
८. तीर्थकर का उपदेश होता है दिव्य-ध्वनि खिरती है; वे समवसरणादि तथा तीर्थकर नामकर्मके उदय सहित हैं।	भगवान का उपदेश होता भी है और नहीं भी होता है। वे समवसरणादि से तथा कर्मोदय से सहित-रहित भी हैं।
९. तीर्थकर जिन बिम्बों की छाती पर	अन्य भगवानों के जिन बिम्बों पर ये

श्रीवत्स तथा सिंहासन पर संकेत-चिन्ह होता है।

१०. तीर्थकर के कल्याणक होते हैं।

११. इनके केवलज्ञान सम्बन्धी दश, देवकृत चौदह, जन्म सम्बन्धी दश अतिशय और आठ प्रातिहार्य आदि होते हैं।

१२. तीर्थकर दो-तीन या पाँच कल्याणक वाले भी होते हैं।

१३. तीर्थकर विशेष हैं।

१४. तीर्थकर औदयिक, क्षायिक, पारिणामिक—इन तीनों भाव सहित हैं।

१५. तीर्थकर करणानुयोग की अपेक्षा संसारी तथा सकल परमात्मा हैं।

१६. तीर्थकर तेरहवें-चौदहवें गुण-स्थानवर्ती हैं।

१७. तीर्थकरों के प्रतिजीवी गुणों का परिणमन अशुद्ध ही होता है।

१८. अकृत्रिम चैत्यालयों में तीर्थकरों की प्रतिमाएँ नहीं होती हैं।

१९. तीर्थकर आप्त कहलाते हैं।

२०. तीर्थकरों का शासन चलता है।

चिन्ह नहीं होते हैं।

अन्य भगवान के नहीं होते हैं।

अन्य भगवानों के ये नहीं होते हैं।

सामान्य भगवान के इनका नियम नहीं है।

भगवान सामान्य हैं।

भगवान इन तीनों भाव सहित भी होते हैं तथा क्षायिक और पारिणामिक—दो भाव सहित भी होते हैं।

भगवानों में सिद्ध निकलपरमात्मा और संसारी सकलपरमात्मा दोनों हैं। भगवान इन दोनों गुणस्थान वाले भी हैं और गुणस्थानातीत भी हैं।

भगवानों में यह शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है।

वहाँ भगवान की प्रतिमाएँ होती हैं।

अन्य भगवान उपचार से आप्त हैं।

अन्य भगवानों का नहीं।

इत्यादि अनेकों अन्तर तीर्थकर भगवान और सामान्य भगवान में हैं।

प्रश्न ७ : तीर्थकर भगवान और सामान्य भगवान में क्या समानता है?

उत्तर : तीर्थकर भगवान और सामान्य भगवान में कुछ समानताएँ भी हैं। जो इसप्रकार हैं—

१. दोनों ही मोह, राग, द्वेष आदि सम्पूर्ण विकारी भावों; भाव कर्मों से रहित, पूर्ण वीतरागी हैं।

२. दोनों ही सर्वज्ञ/केवलज्ञान-सम्पन्न हैं। पर की अपेक्षा किए बिना

सम्पूर्ण लोकालोक को प्रत्यक्ष जानते हैं।

३. दोनों ही अनन्त दर्शन-ज्ञानमय, अनन्त वीर्य-सम्पन्न, सहज स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनन्द से परिपूर्ण हैं।

४. दोनों ही पंच परावर्तन से रहित, जन्म-मरण आदि अठारह दोषों से रहित निर्दोष परमात्मा हैं।

५. दोनों ही मोक्षतत्त्वरूप हैं।

इत्यादि अनेकों रूपों में तीर्थकर और सामान्य भगवान दोनों समान हैं।

प्रश्न ८ : चिन्ह सहित तीर्थकरों के नाम याद रखना तो कठिन लगता है?

उत्तर : निम्नलिखित पद्य याद कर लेने पर उनके नाम तथा चिन्ह याद रखना सरल है— **श्री चौबीस तीर्थकरों के नाम-चिन्ह**

वृषभनाथ^१ का 'वृषभ' जु जान, अजितनाथ^२ के 'हाथी' मान ॥
संभवजिन^३ के 'घोड़ा' कहा, अभिनंदन^४ पद 'बंदर' लहा ॥१॥
सुमतिनाथ^५ के 'चकवा' होय, पद्मप्रभ^६ के 'कमल' जु जोय ॥
जिन सुपास^७ के 'सथिया' कहा, चंद्रप्रभ^८ पद 'चंद्र' जु लहा ॥२॥
पुष्पदंत^९ पद 'मगर' पिछान, 'कल्पवृक्ष' शीतल^{१०} पद मान ॥
श्रीश्रेयांस^{११} पद 'गेंडा' होय, वासुपूज्य^{१२} के 'भैंसा' जोय ॥३॥
विमलनाथ^{१३} पद 'शूकर' मान, अनंतनाथ^{१४} के 'सेही' जान ॥
धर्मनाथ^{१५} के 'वज्र' कहाय, शांतिनाथ^{१६} पद 'हिरन' लहाय ॥४॥
कुंथुनाथ^{१७} के पद 'अज' चीन, अरजिन^{१८} के पद चिन्ह जु 'मीन' ॥
मल्लिनाथ^{१९} पद 'कलसा' कहा, मुनिसुव्रत^{२०} के 'कछुआ' लहा ॥५॥
'लालकमल' नमिजिन^{२१} के होय, नेमिनाथ^{२२} पद 'संख' जु जोय ॥
पार्श्वनाथ^{२३} के 'सर्प' जु कहा, वर्धमान^{२४} पद 'सिंह' हि लहा ॥६॥

प्रश्न ९ : तीर्थकर और भगवान को जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर : तीर्थकर और भगवान में अन्तर और समानता जानने से, उनका स्वरूप समझने से हमें यह ज्ञात होता है कि वास्तव में वीतरागी और सर्वज्ञ होने के कारण ही वे हमारे पूज्य हैं, आदर्श हैं; अन्य कोई विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसप्रकार वीतरागता, सर्वज्ञता की महिमा लाकर; उनका उपदेश समझकर, यदि हमने उनके अनुसार प्रवर्तन किया; उन जैसे अपने आत्मा को जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीन रहे तो हम भी उन जैसे ही भगवान बन जाते हैं; पूर्ण सुखी, अतीन्द्रिय आनन्दमय, वीतरागी, सर्वज्ञ दशा प्राप्त कर लेते हैं।



प्रश्न १ : जिनमंदिर में क्या-क्या नहीं ले जाना चाहिए?

उत्तर : जो वस्तुएँ प्राणिओं को मारकर, या उन्हें कष्ट देकर तैयार की जाती हैं, ऐसी चमड़ा, रोम, सिल्क आदि की वस्तुएँ; पर्स, बेल्ट आदि जिनमंदिर में नहीं ले जाना चाहिए।

प्रश्न २ : मंदिर में कैसे जाना चाहिए?

उत्तर : जिनमंदिर के बाहर सुरक्षित स्थान पर जूते-चप्पल आदि उतारकर, वहाँ रखे शुद्ध-स्वच्छ-छने हुए जल से हाथ-पैर धोकर भगवान की जय-जयकार करते हुए, तीन बार 'निःसहि' शब्द बोलते हुए मंदिर में जाना चाहिए।

प्रश्न ३ : 'निःसहि' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : 'निःसहि' शब्द का अर्थ है सर्व सांसारिक कार्यों का निषेध; अर्थात् सांसारिक सभी कामों की चिंता छोड़कर, घर-गृहस्थी, व्यापार-धन्धे सम्बन्धी किसी भी प्रकार की चर्चा-वार्ता मंदिर में न करने का संकल्प लेकर, विषय-कषायवर्धक कोई भी क्रियाएँ वहाँ न करने की प्रतिज्ञा करके मंदिर में प्रवेश करना चाहिए।

जिनमंदिर में पहले से विद्यमान किसी व्यक्ति से आज्ञा लेने या उसे अपने आने की सूचना देने के लिए भी 'निःसहि' शब्द का प्रयोग होता है।

प्रश्न ४ : भगवान के दर्शन करने की विधि क्या है?

उत्तर : मंदिर के अंदर, भगवान की वेदी के सामने खड़े होकर ॐ जय, जय, जय; नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु; णमो अरहंताणं आदि णमोकार मंत्र और चत्तारि मंगलं आदि मंगलपाठ बोलते हुए जिनेन्द्र भगवान को साष्टांग नमस्कार करना चाहिए। उसके बाद मन एकाग्रकर भगवान की स्तुति बोलते हुए उनकी तीन प्रदक्षिणा देना चाहिए। उसके बाद पुनः भगवान को नमस्कार कर नौ बार णमोकार मंत्र आदि पढ़ते हुए कायोत्सर्ग करना चाहिए।

प्रश्न ५ : साष्टांग नमस्कार क्या है?

उत्तर : स+अष्ट+अंग=साष्टांग=आठों अंगों सहित नमस्कार साष्टांग

नमस्कार है। अपने शरीर के आठ अंग हैं—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब (पीछे का भाग), पीठ, हृदय और शिर।

इन आठों अंगों को झुकाते हुए नमस्कार करना, साष्टांग नमस्कार कहलाता है अर्थात् गवासन से नमस्कार करना, साष्टांग नमस्कार है।

प्रश्न ६ : कायोत्सर्ग किसे कहते हैं?

उत्तर : काय+उत्सर्ग=कायोत्सर्ग। काय=शरीर, उत्सर्ग=ममत्व का त्याग; अर्थात् शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करते हुए अपने मन को आत्मा, परमात्मा के चिन्तन में लगाना कायोत्सर्ग है।

प्रश्न ७ : प्रदक्षिणा किसे कहते हैं?

उत्तर : भगवान की सर्वांगीण वीतरागता देखने के लिए भगवान के चारों ओर जो चक्कर लगाए जाते हैं, उसे प्रदक्षिणा कहते हैं। प्रकृष्टरूप से दक्ष रहते हुए, सावधान रहते हुए, आत्मलाभ के लिए की जाने वाली क्रिया, प्रदक्षिणा है। इसे परिक्रमा भी कहते हैं। परि=सब ओर, चारों ओर; क्रमा=घूमना; अर्थात् भगवान के चारों ओर चक्कर लगाना परिक्रमा है।

प्रश्न ८ : प्रदक्षिणा तीन क्यों लगाई जाती है?

उत्तर : तीन प्रदक्षिणा करने के अनेकों कारण हैं; उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—तीन संख्या बहुवचन की सूचक है; अतः तीन बार लगाने का अर्थ अनेक बार लगाना होता है; अथवा मन, वचन, काय की एकाग्रता पूर्वक प्रदक्षिणा की सूचक तीन संख्या है; अथवा कृत, कारित, अनुमोदना की सूचक यह संख्या है; अथवा समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ रूप सम्पूर्ण विषय-कषायमय पाप परिणामों के त्याग की; अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र या मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति के त्याग की भावना से; अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्रगटता-हेतु इत्यादि अनेक कारणों से तीन प्रदक्षिणा दी जाती है।

प्रश्न ९ : देव-दर्शन/जिनेन्द्र भगवान के दर्शन क्यों करना चाहिए?

उत्तर : जैसे अपने पूर्वजों की फोटो देखकर हमें उनकी याद आती है; उन जैसे सद्गुणी, महान बनने की भावना जागृत होती है; उसी प्रकार भगवान की प्रतिष्ठित प्रतिमा को देखकर हमें साक्षात् भगवान की याद आती है, उन जैसे ही सम्पूर्ण विषय-कषायों से पूर्णतया रहित वीतरागी-सर्वज्ञ बनने की भावना

जागृत होती है। भगवान के दर्शन से परिणामों में निर्मलता आती है, आत्मा में शांति प्रगट होती है, हिंसादि पापभाव नष्ट हो जाते हैं, विषय-कषायों में सुखबुद्धि नष्ट हो जाती है, अपने-पराये का भेदज्ञान होता है, जिसके फल में हम स्वयं भी भगवान बन जाते हैं; अतः प्रतिदिन देवदर्शन अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न १० : देव-दर्शन करने के बाद क्या करना चाहिए?

उत्तर : देव-दर्शन करने के बाद प्रतिदिन कम से कम आधा घण्टे जिनेन्द्र भगवान की वाणी, जिनवाणी का स्वाध्याय करना या सुनना चाहिए। इसके बाद कुछ देर पढ़े हुए या सुने हुए का चिन्तन-मनन करना चाहिए। उसी प्रकार मैं कौन हूँ? भगवान कौन हैं? मैं भगवान कैसे बन सकता हूँ? — इत्यादि सम्बन्धी विचार करना चाहिए।

प्रश्न ११ : एकमात्र वीतरागी, सर्वज्ञ देव ही पूज्य क्यों हैं?

उत्तर : हम वास्तव में दुःखों को नष्ट कर सुखी होना चाहते हैं। वीतरागी-सर्वज्ञ देव मोह, राग, द्वेष, जन्म, जरा, मरण आदि सभी दोषों से रहित हैं; साज-शृंगार, स्त्री, वस्त्राभूषण, अस्त्र-शस्त्र आदि सभी प्रकार के आरम्भ-परिग्रह से रहित हैं; सम्पूर्ण लोकालोक को जानते-देखते हुए अनन्त शक्ति-सम्पन्न होने पर भी न तो किसी को प्रभावित करते हैं और न किसी से प्रभावित होते हैं, अलौकिक महापुरुष हैं, परिपूर्ण सुखी हैं; अतः वे ही हमारे आदर्श होने के कारण हमारे लिए पूज्य हैं, वन्दनीय हैं।

प्रश्न १२ : पद्मावती-धरणेन्द्र आदि अन्य देवी-देवता पूज्य क्यों नहीं हैं?

उत्तर : ये सभी देवी-देवता, मोह, राग, द्वेष, जन्म, मरण आदि दोषों से सहित हैं; विषय-कषायों में आसक्त, साज-शृंगार, वस्त्राभूषण, अस्त्र-शस्त्र आदि संसार/दुःखवर्धक आरम्भ-परिग्रह से सहित हैं; हम लोगों जैसे ही अल्पज्ञानी तथा दुखी हैं; अतः हमारे लिए पूज्य नहीं हैं।

जैनधर्म में संयम ही पूज्य है, असंयम नहीं। देवगति के देव नियम से असंयमी होने के कारण पूज्य नहीं हैं।

प्रश्न १३ : जिनमंदिर जाने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : जिनमंदिर में वीतरागी-सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान विराजमान रहते हैं। उनके दर्शन करने से आत्मा में शांति प्रगट होती है, परिणामों में निर्मलता आती है, मंदिर में आत्मा की चर्चा होती रहती है। आत्मस्वरूप समझकर यदि

हम आत्मस्वरूप में लीन हुए तो परमात्मा बन जाते हैं; इसलिए प्रतिदिन जिनमंदिर अवश्य जाना चाहिए।

प्रश्न १४ : जिनमंदिर में क्या-क्या नहीं करना चाहिए?

उत्तर : जिनमंदिर परम अहिंसक, वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान का मंदिर है; पाप-प्रक्षालन का एकमात्र पुण्य स्थान है। कहा भी है—

“अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति ॥”

इसका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है—

अन्यक्षेत्र में किए पाप तो, धर्मक्षेत्र में होते नष्ट।

धर्मक्षेत्र में किए पाप पर, वज्रलेप सम देते कष्ट।

अतः वहाँ हिंसामय, हिंसाजन्य, राग-द्वेषवर्धक, अज्ञानपरक कोई भी क्रियाएँ, विकथाएँ, चर्चा-वार्ताएँ नहीं करना चाहिए। दुर्वचन, दुर्विचार, दुश्चिंतन, दुर्ध्यान, दुर्व्यवहार आदि विषय-कषायमय क्रिया-कलाप आदि नहीं करना चाहिए।

○○○

है यही भावना हे स्वामिन

है यही भावना हे स्वामिन, तुम सम ही अन्तर्दृष्टि हो।
है यही कामना हे प्रभुवर, तुम सम ही अन्तर्वृत्ति हो ॥१॥
तुमको पाकर संतुष्ट हुआ, निज शाश्वतपद का भान हुआ।
पर तो पर ही है देह स्वाँग, तुमको लख भेद विज्ञान हुआ ॥
मैं ज्ञानानंद स्वरूप सहज, ज्ञानानन्दमय मम सृष्टि हो ॥१॥
तुम निर्मोही रागादि रहित, निष्काम परम निर्दोष प्रभो।
निष्कर्म, निरामय, निष्कलंक, निर्ग्रन्थ सहज अक्षोभ अहो ॥
मेरा भी ऐसा ही स्वरूप, अनुभूति धर्ममय वृष्टि हो ॥२॥
इन्द्रादिक चरणों में नत हैं, पर आप परम निरपेक्ष रहो।
अक्षयवैभव अद्भुत प्रभुता, लखते ही चित आनन्दमय हो ॥
हे परम पुरुष आदर्श रहो, उर में निष्काम सु भक्ति हो ॥३॥
संसार प्रपञ्च महा दुखमय, मेरा मन अति ही घबड़ाया।
होकर निराश सबसे प्रभुवर, मैं चरण शरण में हूँ आया ॥
मम परिणति में भी स्वाश्रय से, रागादिक से निर्वृत्ति हो ॥४॥
जगख्यातिलाभकी चाह नहीं, हो प्रगट आत्मख्याति जिनवर।
उपसर्गों की परवाह नहीं, आराधन हो सुखमय प्रभुवर ॥
सब कर्म कलंक सहज विनशें, विभु निजानन्द में तृप्ति हो ॥५॥

पाठ ५

जीव-अजीव

प्रश्न १ : जीव किसे कहते हैं?

उत्तर : जो जानता-देखता है, सुख-दुःख का वेदन/अनुभव करता है, उसे जीव कहते हैं।

प्रश्न २ : अजीव किसे कहते हैं?

उत्तर : जो जानता-देखता नहीं है, सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता है, उसे अजीव कहते हैं।

प्रश्न ३ : इस पाठ में कितने प्रकार के अजीवों की ओर संकेत है?

उत्तर : इस पाठ में निम्नलिखित दो प्रकार के अजीव बताए गए हैं—

१. वे अजीव जो दूध-पानी के समान जीव के साथ घुले-मिले नहीं हैं। जैसे टेबिल, कुर्सी, वस्त्र, बर्तन आदि अजीव।

२. वे अजीव जो दूध-पानी के समान जीव के साथ घुले-मिले हैं। जैसे शरीर या आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ।

प्रश्न ४ : जीव के साथ घुल-मिलकर एक साथ रहने वाले शरीर, आँख, नाक आदि रूप अजीव को जीव क्यों कह दिया जाता है?

उत्तर : अहिंसात्मक आचरण की सिद्धि के लिए और संसारी जीव की पहिचान करने के लिए जीव के साथ रहने वाले शरीर रूप अजीव को भी जीव कह दिया जाता है। वह इसप्रकार—

१. जीव अमूर्तिक होने के कारण आँख, नाक, कान आदि द्वारा ज्ञात नहीं होता है और शरीर अजीव होने के कारण उसे कष्ट नहीं होता है—इस एकान्त ज्ञान के आधार पर अज्ञानी जीव, जीव सहित अजीव शरीर को भी भस्म के समान पूर्णतया अजीव मानकर उन्हें मसलने लगते हैं, उनकी हिंसा करने लगते हैं। उन्हें हिंसा से बचाने के लिए जीव सहित अजीव शरीर को उपचार से जीव कह दिया जाता है; इससे हमारा जीवन हिंसा पाप से बचकर अहिंसा-मय हो जाता है।

२. विविध पर्यायों में रहनेवाले विभिन्न जीव जीवत्व की अपेक्षा एक समान हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि अथवा त्रस, स्थावर आदि भेद वास्तव

में शरीर सापेक्ष ही हैं। संसारी जीवों के इन भेदों का ज्ञान कराने के लिए तथा हमारा जीव हमारे इस शरीर में ही है, अन्यत्र नहीं—इस प्रकार अपने जीव की खोज सरल करने के लिए, अजीव होते हुए भी जीव सहित शरीर को उपचार से जीव कह दिया जाता है।

प्रश्न ५ : क्या वास्तव में आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, शरीर सुख-दुःख का वेदन करता है?

उत्तर : वास्तव में ये सब अजीव शरीर के अंग होने से, न तो आँखें देखती हैं और न कान सुनते हैं, शरीर भी सुख-दुःख का वेदन नहीं करता है। इस शरीर के साथ ही रहने वाला जीव आँखों के माध्यम से देखता है, कानों के माध्यम से सुनता है, शरीर के माध्यम से सुख-दुःख का वेदन करता है। वास्तव में आँख, नाक, कान आदि रूप शरीर तो खिड़कियों या दरवाजों के समान हैं; इन माध्यमों से देखने-जानने वाला, वेदन करने वाला जीव तो इनसे पूर्णतया भिन्न है।

यदि आँखें देखती होतीं, कान सुनते होते, शरीर सुख-दुःख का वेदन करता होता तो मुर्दे में भी ये सभी कार्य दिखाई देते; परन्तु मुर्दे में तो ये कार्य नहीं होते हैं; इससे सिद्ध है कि अजीव शरीर ये कार्य नहीं करता है, जीव के कारण उपचार से ये कार्य शरीर के कह दिए जाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमारी आँखें सामने किसी पदार्थ पर टिकीं होने पर भी उपयोग दूसरी जगह होने के कारण वह सामने का पदार्थ तो हमें दिखाई नहीं देता और जहाँ उपयोग लगा है, वह पदार्थ अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इससे भी स्पष्ट है कि आँखें नहीं देखती हैं, आँखों आदि के समूह रूप शरीर से पूर्णतया भिन्न होने पर भी शरीर में रहने वाला चैतन्य/उपयोगमयी जीव ही जानता-देखता है, जानने-देखने का कार्य करता है।

प्रश्न ६ : जीव और अजीव को जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर : जीव और अजीव को जानने से हमें अपने और पराये की वास्तविक जानकारी होती है। ज्ञानानन्द स्वभावी अपने आत्मा की वास्तविक जानकारी होती है, पहिचान होती है, जो स्वयं को सुखी करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अनादि से अपने जीव/आत्मा की पहिचान न होने के कारण हम शरीर-

रूप अजीव को ही अपना मानकर उसे ही सुखी करने का प्रयास कर रहे हैं; परन्तु वह हम न होने के कारण और उसमें वेदन करने की क्षमता न होने के कारण हमारे सारे प्रयास निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं; जीवन पूर्ववत् दुःखमय ही चल रहा है।

इससे विपरीत हमें अपनी जानकारी, पहिचान हो जाने पर हम शरीर से विरक्त होकर स्वयं को ही सुखी बनाने का प्रयास करने लगते हैं। अपने आत्मा को अपनत्व रूप से मानकर, जानकर, उसमें ही लीनता रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्रगट करने का पुरुषार्थ करते हैं; जिससे हम विषया-तीत, अतीन्द्रिय आनन्दमय, ज्ञानसम्पन्न, परिपूर्ण परमात्मदशा को प्राप्त कर लेते हैं; अर्थात् जीव-अजीव की वास्तविक जानकारी से हम स्वयं भगवान बन जाते हैं।

○○○

अपना स्वरूप देख तो जरा

रे जीव! तू अपना स्वरूप देख तो जरा।

दृग-ज्ञान-सुख-वीर्य का भण्डार है भरा ॥टेक॥

न जन्मता मरता नहीं, शाश्वत प्रभु कहा।

उत्पाद व्यय होते हुए भी ध्रौव्य ही रहा ॥१॥

पर से नहीं लेता नहीं देता तनिक पर को।

निरपेक्ष है पर से स्वयं में पूर्ण ही अहा ॥२॥

कर्ता नहीं भोक्ता नहीं स्वामी नहीं पर का।

अत्यन्तभाव रूप से ज्ञायक ही प्रभु सदा ॥३॥

पर को नहीं मेरी कभी मुझको नहीं पर की।

जरूरत पड़े सब परिणामन स्वतंत्र ही अहा ॥४॥

पर दृष्टि झूठी छोड़कर निज दृष्टि तू करे।

निज में ही मग्न होय तो आनन्द हो महा ॥५॥

बस मुक्तिमार्ग है यही निज दृष्टि अनुभवन।

निज में ही होवे लीनता शिव पद स्वयं लहा ॥६॥

आत्मन् कहुँ महिमा कहाँ तक आत्मभाव की।

जिससे बने परमात्मा शुद्धात्म वह कहा ॥७॥

प्रश्न १ : हमें सुबह शीघ्र सूर्योदय से पूर्व क्यों उठना चाहिए?

उत्तर : सुबह शीघ्र उठने से हमें निम्नलिखित शारीरिक, मानसिक आदि अनेकों लाभ प्राप्त होते हैं—

१. रात्रि में कल-कारखाने, यातायात आदि प्रायः बन्द हो जाने अथवा अत्यन्त कम हो जाने से तथा वायु का प्रवाह सतत प्रवाहित रहने से सुबह वातावरण में पर्यावरण सम्बन्धी प्रदूषण नष्टप्राय हो जाता है; वातावरण स्वच्छ, शुद्ध और शान्त होता है, जो स्वास्थ्यवर्धक, उत्साहवर्धक होता है; ऐसे विशिष्ट वातावरण का उपयोग शीघ्र उठने पर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

२. सुबह करीब ४-५ बजे घर-गृहस्थी या व्यापार-धंधा सम्बन्धी विशेष कार्य न होने के कारण इस समय का उपयोग हम एकाग्रतापूर्वक आत्महितकारी तत्त्व चिंतन-मनन में, ज्ञान-ध्यान में सरलता से कर सकते हैं।

३. शीघ्र उठ जाने पर प्रत्येक दैनिक कार्य के लिए पर्याप्त समय मिल जाने से समयाभाव के कारण होने वाली, जल्दबाजी, आकुलता, चिड़चिड़ाहट समाप्तप्राय हो जाती है। जिससे वातावरण तनाव रहित, शान्त रहता है।

४. दिन भर के शेष कार्य भी अपने आप व्यवस्थित समय पर होने लगते हैं।

इत्यादि अनेकों लाभ सुबह शीघ्र उठने पर हमें प्राप्त होते हैं; अतः हमें सुबह शीघ्र सूर्योदय से पूर्व उठना चाहिए।

प्रश्न २ : उठकर सबसे पहले कम से कम नौ बार णमोकार मंत्र क्यों पढ़ना चाहिए?

उत्तर : हम सभी सुखी होना चाहते हैं; अतः सुखी जीव ही हमारे आदर्श हैं, पूज्य हैं। णमोकार मंत्र में उन्हीं सुखी जीवों का स्मरण कर उन्हें नमस्कार किया गया है; अतः हमें अपने दैनिक कार्यों का प्रारम्भ, उनका स्मरण कर, उन्हें नमस्कार करके ही करना चाहिए।

प्रायः हम प्रत्येक कार्य मन, वचन, काय के माध्यम से कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक करते हैं। इन नौ के प्रतीकरूप में कम से कम नौ बार अपने आदर्शों का स्मरण किया जाता है।

लोक में नौ का अंक पहाड़ा आदि के माध्यम से वृद्धिगत होने पर भी

उनका योग नौ ही रहता है। जैसे ९ दूनी १८-१+८=९, ९ तिरी २७-२+७=९ इत्यादि; अर्थात् ९ का अंक सदा शाश्वत अक्षय बना रहता है। हमें भी सदा शाश्वत अक्षय रहनेवाला सुख चाहिए; अतः उसके प्रतीकरूप में आदर्शों का नौ बार स्मरण करते हैं।

प्रश्न ३ : इसके बाद आत्मा-परमात्मा का चिंतन क्यों करना चाहिए?

उत्तर : हमने अपने आदर्शों को नमस्कार, मात्र उन्हें नमस्कार करने के लिए नहीं किया है; अपितु उन जैसा बनने की भावना से किया है। उन जैसा बनना, उनके और अपने स्वरूप के चिंतन-मनन के बिना सम्भव नहीं है। परमात्मा और आत्मा में अंतर मात्र मन की शुद्धि-अशुद्धि का है। अंतर को नष्ट करने-हेतु मन की अशुद्धि दूर करने के लिए आत्मा-परमात्मा का चिंतन करना चाहिए।

प्रश्न ४ : मन अशुद्ध कैसे होता है?

उत्तर : अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को न जानने से, भगवान के द्वारा बताया गए परसे पूर्ण निरपेक्ष वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप को न जानने से, वस्तु की पूर्ण स्वाधीन कर्ता-कर्म की व्यवस्था को न मानने से, न जानने से और उस रूप चर्या नहीं करने से उत्पन्न होने वाले मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों से मन अशुद्ध होता है। विषय-कषाय आदि के भाव ही मन की अशुद्धि है।

प्रश्न ५ : आत्मा-परमात्मा के चिंतन से मन शुद्ध कैसे हो जाएगा?

उत्तर : किसी भी विषय के चिंतन के लिए उस सम्बन्धी ज्ञान और रुचि आवश्यक होती है; जब हम अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को जानते हैं, सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा बताई गई प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र-स्वाधीन परिपूर्ण शक्ति-सम्पन्न सत्ता, परिणामन-व्यवस्था स्वीकार करते हैं; तब कोई किसी का कर्ता-धर्ता-हर्ता दिखाई नहीं देता है, जिससे किसी भी परपदार्थ के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता है, किसी को भी अच्छा-बुरा मानने का परिणाम उत्पन्न नहीं होता है, कोई अनुकूल-प्रतिकूल लगता ही नहीं है। वीतरागी परमात्मा का स्वरूप समझ में आने पर उन जैसे अपने आत्मा का भी वीतरागी स्वरूप समझ में आ जाता है; जिसका अपनेपन से श्रद्धान-ज्ञान होने पर उसके ही चिंतन-मनन के माध्यम से उसमें ही स्थिर रहने का स्वोन्मुखी पुरुषार्थ सहज विकसित होता है। इसी के बल पर चिंतन-मनन भी उपेक्षित हो जाने के कारण, संचेतन रूप से परिवर्तित होकर पूर्ण स्वरूपस्थिरता हो जाने पर मन में मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव उत्पन्न ही नहीं होते हैं।

‘मन में मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव उत्पन्न नहीं होना ही मन की शुद्धि है।’—इसप्रकार आत्मा-परमात्मा के चिंतन से मन शुद्ध हो जाता है।

प्रश्न ६ : शरीर अशुद्ध/मलिन/अपवित्र कैसे होता है?

उत्तर : मल, मूत्र, पसीना आदि तथा बाहर की धूल, मिट्टी आदि से शरीर अशुद्ध/मलिन/अपवित्र होता है।

प्रश्न ७ : शारीरिक स्वच्छता के लिए हमें किस क्रम से क्या करना चाहिए?

उत्तर : शारीरिक स्वच्छता के क्रम में सबसे पहले शौच से निर्वृत्त होना चाहिए, इसके बाद दाँत साफ करना चाहिए और इसके बाद स्नान करना चाहिए। समय-समय पर नाखून आदि भी स्वच्छ करते रहना चाहिए।

स्नान के बाद ये सब कार्य करने पर हाथ, पैर, मुख आदि गन्दे हो जाने के कारण पुनः उन्हें साफ करना पड़ेगा। यदि स्नान के पूर्व ही इन सभी कार्यों से निर्वृत्त हो गए तो स्नान करते समय ही एक साथ सम्पूर्ण शरीर स्वच्छ हो जाने से पुनः स्वच्छ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

अतः शौच के बाद, दाँत-मुख स्वच्छ करने के बाद ही शुद्ध, स्वच्छ, छने हुए जल से स्नान कर शरीर स्वच्छ करना चाहिए। हमें शारीरिक स्वच्छता के साथ ही अधिकाधिक प्रयास मन को स्वच्छ रखने का करना चाहिए।

प्रश्न ८ : मन को स्वच्छ रखने का अधिकतम प्रयास क्यों करना चाहिए?

उत्तर : वास्तव में मन की अस्वच्छता/अपवित्रता के कारण ही हम दुखी हैं। इसकी अशुद्धि से हमारी दिनचर्या अव्यवस्थित होती है, हम विषय-कषायों में उलझकर अपनी हिंसा करते हैं। मन की अशुद्धि से ही हमें बारम्बार शरीर मिलता है। शरीर तो मल-मूत्र आदि गन्दगी की खान होने से सतत प्रयत्न करने पर भी वह कभी वास्तविक शुद्ध हो ही नहीं सकता है; परन्तु यदि मन पूर्ण/पवित्र हो गया, रागादि सभी विकार नष्ट हो गए तो अशरीरी सिद्ध दशा प्रगट हो जाने के कारण शरीर मात्र का भी संयोग नष्ट हो जाएगा; अतः हमें शारीरिक शुद्धि के साथ ही अधिकाधिक प्रयास मन को शुद्ध रखने का करना चाहिए।

प्रश्न ९ : शुद्ध, स्वच्छ व धुले हुए ही वस्त्र पहिन कर मंदिर क्यों जाना चाहिए?

उत्तर : मंदिर एक सामाजिक, सार्वजनिक, धार्मिक स्थल है। उसकी स्वच्छता-पवित्रता बनाए रखने के लिए, मन को एकाग्र रखने के लिए तथा अन्य का मन भी अस्थिर/चंचल न होने देने के लिए शुद्ध, स्वच्छ और धुले हुए ही वस्त्र पहिनकर मंदिरजी जाना चाहिए।

प्रश्न १० : सुबह भोजन का समय नियमित-निश्चित लगभग १०-११ बजे के बीच का क्यों होना चाहिए?

उत्तर : भोजन आदि का समय नियमित-निश्चित होने से हमारी सम्पूर्ण दिनचर्या व्यवस्थित रहती है, स्वास्थ्य भी ठीक बना रहता है, इसके साथ ही घर के अन्य सदस्यों की भी दिनचर्या व्यवस्थित हो जाती है। उनका तथा घर में काम करने वाले लोगों का समय व्यर्थ नष्ट नहीं होता है, शक्ति भी व्यर्थ नष्ट नहीं होती है। सुबह १०-११ बजे के बीच भोजन हो जाने पर शाम को ४-५ बजे के बीच अपने आप ही भूख लग आने से भोजन करने की आवश्यकता पड़ती है। जिससे रात्रि-भोजन आदि का त्याग सहज ही हो जाता है; अतः सुबह के भोजन का समय नियमित-निश्चित १०-११ बजे के बीच का ही होना चाहिए।

प्रश्न ११ : मन शांत रखकर ही भोजन क्यों करना चाहिए?

उत्तर : अपने मन का अर्थात् परिणामों का और भोजन का अति निकटतम सम्बन्ध है। हम जैसे मन से भोजन करेंगे, शरीर पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। तीव्र क्रोधावेश से किए गए शुद्ध, सात्त्विक भोजन से भी शरीर में विष बनने के अनेक उदाहरण देखे, सुने गए हैं। शांत मन से किया गया रूखा-सूखा भोजन भी शरीर को पूर्ण पुष्टि प्रदान करता है, मन व शरीर को प्रसन्न तथा उत्साह-युक्त बनाता है; अतः शांत मन से ही भोजन करना चाहिए।

इसी प्रकार मौनपूर्वक (बिना बोले) भोजन करना शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अति आवश्यक है। बातचीत करते-करते भोजन करने से कभी-कभी ठसका लग जाता है, कभी-कभी श्वासनलिका में श्वास के साथ भोजन-कण चले जाने पर जीवन भी संकट में पड़ जाता है; बातचीत के कारण भोजन का ठीक से चर्वण भी नहीं हो पाता, कभी-कभी भोजन की मात्रा अधिक भी हो जाती है; जिससे अपचन, अजीर्ण, कब्ज आदि का कष्ट सहन करना पड़ता है।—इन सब समस्याओं से बचने के लिए भोजन शांत मन से मौनपूर्वक करना ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न १२ : रात में भोजन क्यों नहीं करना चाहिए?

उत्तर : निम्नलिखित कारणों से रात में भोजन नहीं करना चाहिए—

१. रात में भोजन करने से हमारी और घर के अन्य सदस्यों की दिनचर्या अव्यवस्थित हो जाती है।

२. रात में स्वाध्याय, अभ्यास आदि के लिए समय नहीं मिल पाता।

३. सूर्य-प्रकाश का अभाव होने से तथा भोजन और नींद के बीच ४-५ घंटे का अन्तर न रह पाने के कारण अपचन, सुस्ती आदि शारीरिक बीमारियाँ पैदा होने लगती हैं।

४. रात्रि में कीड़ों-मकोड़ों की बहुलता होने से, उनके भोजन में गिरने की सम्भावना अधिक रहती है, जिसके फलस्वरूप उनकी हिंसा तो होती ही है, साथ ही अनेकानेक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी तो इस जीवन के विनाश का भी अवसर उपस्थित हो जाता है।

५. रात्रि में बर्तन आदि साफ करने की व्यवस्था न हो पाने के कारण, रात भर भोजन आदि के कण सड़ते रहने से वातावरण दुर्गन्धमय हो जाता है तथा बर्तन आदि में जीवराशि मरने से हिंसा पाप भी अधिक होता है।

६. सूर्य का सहज प्रकाशन होने से बिजली आदि कृत्रिम प्रकाश करने के लिए आरम्भ-परिग्रह भी अधिक होता है, खर्च भी अधिक बढ़ता है तथा दिन-रात दोनों समय रसोई में व्यस्त रहने से महिलाओं की विश्रान्ति तथा कार्य-क्षमता पर बुरा असर पड़ता है।

७. भारतीय संस्कृति, जैन धार्मिक संस्कृति नष्ट हो जाती है; आगामी पीढ़ी भी इन्हीं कुसंस्कारों से ग्रस्त हो जाती है।

८. शरीर के प्रति तीव्र आसक्ति के बिना महान अनर्थकारक यह घोर पाप सम्भव नहीं हो पाता, जिससे परभव में भी दुर्गति होती है। विविध रूपों में पाप का फल भोगना पड़ता है।

इत्यादि विविध कारणों से अनर्थकारी रात्रि-भोजन का त्याग करना चाहिए।

प्रश्न १३ : आत्मा-परमात्मा का चिंतन करते हुए स्वच्छ-साफ ही बिस्तर पर क्यों सोना चाहिए?

उत्तर : सोते समय हमारे मन में जैसे विचार चलते हैं, नींद में भी उन्हीं की परम्परा चलती रहती है; यदि हम उस समय आत्मा-परमात्मा का चिंतन नहीं करेंगे तो नियम से यहाँ-वहाँ के विषय-कषाय वर्धक बुरे विचार ही मन में चलते रहेंगे, नींद में भी उन्हीं की परम्परा चलती रहेगी; कषायें तथा अन्य पाप परिणाम उत्पन्न होते रहेंगे; जिससे उस समय तो हम बेचैन रहेंगे ही, पापबंध होने के कारण आगे उसका उदय आने पर भी दुखी ही रहेंगे। इन दुःखों से

बचने के लिए, मन को पवित्र रखने के लिए सोते समय आत्मा-परमात्मा का चिंतन करते-करते ही सोना चाहिए।

इसी प्रकार यदि बिस्तर स्वच्छ-साफ नहीं होगा तो गन्दगी के कारण वहाँ कीटाणु हो सकते हैं, जिनके काटने से नींद पूर्ण न हो सकेगी, रात बीत जाने पर भी थकान, तनाव दूर नहीं हो सकेंगे, ताजगी नहीं आएगी। इसके अतिरिक्त कीड़ों के काटने से विविध बीमारियाँ भी आ सकती हैं, जिससे सम्पूर्ण दिनचर्या ही अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित हो जाएगी। कीड़े मरने से जीवन भी हिंसक हो जाता है।

इन सब समस्याओं से बचने के लिए स्वच्छ एवं साफ बिस्तर पर आत्मा-परमात्मा का चिन्तन आदि करते हुए ही सोना चाहिए।

प्रश्न १४ : रात में ९-१० बजे के बीच शीघ्र क्यों सोना चाहिए?

उत्तर : रात में शीघ्र सोने से रात में ही पूर्ण विश्राम हो जाने पर सुबह शीघ्र नींद खुल जाती है, जिससे सम्पूर्ण दिनचर्या समय पर व्यवस्थित रूप से पूर्ण हो जाती है। समयाभाव के कारण होने वाली चिड़चिड़ाहट, तनाव आदि के लिए अवकाश नहीं रह जाता है। शारीरिक, मानसिक पूर्ण विश्रान्ति के कारण शरीर स्वस्थ, मन उत्साह-सम्पन्न रहता है।

रात में जल्दी सो जाने से बिजली आदि की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती है; जिससे उस सम्बन्धी हिंसा, आरम्भ-परिग्रह आदि पापों से बच जाते हैं।—इत्यादि विविध कारणों से रात में यथाशक्य शीघ्र ही सोना चाहिए।



अच्छे बच्चे जो होते

अच्छे बच्चे जो होते, वे प्रातः जल्दी उठते हैं।
प्रतिदिन मंदिरजी जाकर ही, दिन में भोजन करते हैं॥
मात-पिता की सेवा करते, मन लगाकर पढ़ते हैं।
चीज किसी की नहीं चुराते, झूठ कभी नहीं कहते हैं॥
बिना छना जल काम न लेते, आदर सबका करते हैं।
नहीं झगड़ते कभी किसी से, समय की कीमत करते हैं॥
नित्य पाठशाला जाकर वे, वस्तु-स्वरूप समझते हैं।
सदा निराकुल सुख पाने का, ही प्रयास वे करते हैं॥

प्रश्न १ : भगवान आदिनाथ का जीवन-परिचय अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर : अयोध्या नगरी में राजा नाभिराय और रानी मरुदेवी के यहाँ बालक ऋषभदेव का जन्म हुआ। बड़े होने पर राजकुमार ऋषभदेव का विवाह नंदा और सुनंदा नामक दो राजकुमारियों के साथ हुआ। रानी नंदा से भरत चक्रवर्ती आदि सौ पुत्र तथा ब्राम्ही नामक पुत्री हुई। रानी सुनंदा से बाहुबली नामक पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। राजा नाभिराय ने अपना राज्य राजकुमार ऋषभदेव को देकर, उन्हें राजा बनाया।

एक बार राजा ऋषभदेव अपने राजदरबार में बैठकर नीलांजना का नृत्य देख रहे थे। नृत्य करते-करते उसकी मृत्यु हो गई। इन्द्र ने उसी समय उसी के समान दूसरी नर्तिका की व्यवस्था कर दी। इसे देखकर राजा ऋषभदेव का ध्यान संसार की क्षणभंगुरता और स्वार्थीवृत्ति की ओर गया, जिससे वे राज-परिवार आदि सभी का राग छोड़कर दिगम्बर मुनि हो गए।

दीक्षा के बाद छह महिने तक तो वे आत्मध्यान में ही मग्न रहे, इसके बाद आहार को निकले; परन्तु किसी को भी आहारदान की विधि ज्ञात न होने से उन्हें छह महिने (७ महिने, ९ दिन) तक आहार नहीं मिला। एक वर्ष के बाद सबसे पहले अक्षय-तृतीया (वैशाख शुक्ल तीज) के दिन मुनि ऋषभदेव को श्रेयांस राजा के यहाँ गन्ने के रस का आहार मिला।

एक हजार वर्ष तक मौन रहकर अखण्ड आत्मसाधना करते हुए एक दिन आत्मलीनता की दशा में उन्हें केवलज्ञान हो गया। वे वीतराग, सर्वज्ञ भगवान बन गए। दिव्यध्वनि द्वारा उनका उपदेश होने लगा, जिससे भव्य जीवों को मोक्षमार्ग की जानकारी हुई। कुछ वर्षों बाद वे संसार से मुक्त हो अशरीरी सिद्ध बन गए।

प्रश्न २ : भगवान आदिनाथ के परिचय से हमें कितने तथ्यों की जानकारी होती है?

उत्तर : भगवान आदिनाथ के जीवन-परिचय से हमें अग्रलिखित तथ्यों की जानकारी होती है—

१. कोई भी जन्म से भगवान नहीं होता है, आत्मलीनतारूप पुरुषार्थ से ही सभी भगवान बनते हैं।

२. भगवान के माता-पिता, विवाह, स्त्री-पुत्र, राज्य, भोजन (आहार) आदि नहीं होते हैं; ये क्रमशः बालक, राजकुमार, राजा, मुनिराज के होते हैं।

३. घर-गृहस्थी के साथ-साथ उस सम्बन्धी रागादि विकार छोड़कर ही मुनि होते हैं।

४. भगवान दूसरों को मोक्ष, मोक्षमार्ग, तत्त्व का उपदेश देते हैं। धन-धान्य आदि कुछ भी अन्य वस्तुएँ वे नहीं देते हैं।

५. धन आदि अपने-अपने पुण्योदय से मिलते हैं, उन्हें किसी से भी माँगना व्यर्थ है। अपना पुण्योदय न होने पर इन्द्र आदि भी कुछ नहीं कर सकते।

६. विविध वस्तुओं की प्राप्ति सम्बन्धी पुण्य पृथक्-पृथक् विविध होते हैं; वे परस्पर में एक दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होते हैं।

७. वीतरागता-सर्वज्ञता एकमात्र पूर्ण आत्मलीनता से प्रगट होती है, अन्य किसी साधन से नहीं।

८. भोजन की मात्रा का शारीरिक पुष्टि से सम्बन्ध नहीं है।

९. अन्दर की योग्यता के बिना मात्र बाह्य परिस्थिति आँवैराग्य उत्पन्न नहीं कर सकती हैं।

इत्यादि अनेक तथ्यों की जानकारी भगवान आदिनाथ के जीवन-परिचय से प्राप्त होती है।

प्रश्न ३ : भक्तामर स्तोत्र में किनकी स्तुति की गई है?

उत्तर : भक्तामर स्तोत्र में भगवान आदिनाथ/ऋषभदेव की स्तुति की गई है। आचार्य मानतुंग द्वारा रचित इस स्तोत्र का वास्तविक नाम तो आदिनाथ-स्तोत्र या ऋषभदेवस्तोत्र है; परन्तु 'भक्तामर' शब्द से शुरु होने के कारण यह भक्तामर स्तोत्र नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

प्रश्न ४ : अक्षय तृतीया पर्व क्यों मनाया जाता है?

उत्तर : वैशाख शुक्ल तृतीया के दिन मुनि ऋषभदेव को दीक्षा के एक वर्ष, एक माह, नौ दिन बाद सर्वप्रथम आहार मिला था। लगभग १८ कोड़ाकोड़ी सागर से बंद पड़े दानतीर्थ का इस दिन से पुनः प्रारम्भ हुआ था। उन्हें राजा श्रेयांस ने

इस दिन सर्वप्रथम इक्षुरस का आहार दिया था। — इसप्रकार आहारदान की परम्परा इस युग में इस दिन से प्रारम्भ होने के कारण इस दिन को आज भी अक्षय तृतीया पर्व के रूप में याद किया जाता है।

प्रश्न ५ : भगवान के द्वारा बताए गए मोक्षमार्ग को क्या हम अभी प्राप्त कर सकते हैं? यदि हाँ तो कैसे?

उत्तर : हाँ। अभी हम प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि अभी भगवान हमारे पास नहीं हैं; परन्तु उनके द्वारा कहा गया मोक्षमार्ग ज्ञानीजनों के माध्यम से आज भी हमें प्राप्त है। यदि हम ज्ञानियों द्वारा उसे सीखकर, समझकर; जिनेन्द्र भगवान की वाणीमय जिनशास्त्रों से उसे पढ़कर, जानकर, पहिचानकर, अपने जीवन में अपनाते हैं, उसमय अपना जीवन बनाते हैं, तो हम भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, भगवान बन जाते हैं। — यही मोक्षमार्ग पाने का उपाय है।

प्रश्न ६ : भगवान का वास्तविक भक्त कौन है?

उत्तर : जो भगवान द्वारा बताए गए मुक्तिमार्ग को जानकर, पहिचानकर, उस पर चलता है, उस रूप अपना जीवन बनाता है; वही भगवान का वास्तविक भक्त है।

○○○

आदीश्वर स्वामी....

आदीश्वर स्वामी, वन्दूँ मैं बारम्बार।
धन्य घड़ी प्रभु दर्शन पाए, वन्दूँ बारम्बार ॥टेक ॥
कर्मभूमि की आदिमें, मुक्तिमार्ग अविचार।
दर्शायो आनन्दमय, कियो परम-उपकार ॥१॥
परम-शान्तमुद्रा अहो, भेदज्ञान दर्शाय।
दिव्यध्वनि सुनि आपकी, विभ्रम सर्वपलाय ॥२॥
भव्य अनेकों तिर गए, निजस्वरूप को साध।
इस अशरण संसार में, आपहि तारण हार ॥३॥
मुक्तिमार्ग प्रभु आपका, हमें आज भी प्राप्त।
भेदज्ञानियों से अहो, निज में ही हे आप्त ॥४॥
प्रभुता प्रभुवर आप सम, दीखे अन्तर माहिं।
होय परम निर्ग्रन्थता, भाव सहज उमगाहिं ॥५॥
नहीं प्रयोजन जगत से, चाह न रही लगाय।
तृप्त स्वयं में ही रहूँ, सहजरूप सुखकार ॥६॥

शुद्धातम है मेरा नाम, मात्र जानना मेरा काम।
मुक्तिपुरी है मेरा धाम, मिलता जहाँ पूर्ण विश्राम ॥
जहाँ भूख का नाम नहीं है, जहाँ प्यास का काम नहीं है।
खाँसी और जुखाम नहीं है, आधि व्याधि का नाम नहीं है ॥
सत् शिव सुन्दर मेरा धाम, शुद्धातम है मेरा नाम ॥१॥
स्वपर भेदविज्ञान करेंगे, निज आतम का ध्यान धरेंगे।
राग-द्वेष का त्याग करेंगे, चिदानन्द रस पान करेंगे ॥
सब सुखदाता मेरा धाम, शुद्धातम है मेरा नाम ॥२॥

प्रश्न १ : अपने शब्दों में आत्मा का अर्थात् अपना परिचय लिखिए।

उत्तर : आत्मा का/मेरा नाम शुद्धात्मा है। मेरा काम मात्र जानना-देखना है। कुछ भी करना-धरना मेरा काम नहीं है। मेरा घर मुक्तिपुरी/मोक्ष है।

प्रश्न २ : मेरा घर कैसा है?

उत्तर : मेरा घर पूर्ण विश्रामदायक है। वहाँ भूख-प्यास नहीं सताती। खाँसी, जुखाम आदि शारीरिकरोग रूप व्याधिआँ वहाँ नहीं हैं। चिंता, तनाव, भय आदि मानसिकरोग रूप आधिआँ भी वहाँ नहीं हैं। मेरा घर सत् है/वास्तविक विद्यमान है, शिव है/कल्याणकारी है और सुन्दर है/अतिशय मनोहारी है, रम्य है, रमणीक है, विविध सौन्दर्य-सम्पन्न है। मेरा घर मेरे लिए सभी प्रकार के सुख देता है।

प्रश्न ३ : अपने घर को पाने के लिए हम क्या करेंगे? अर्थात् अपना घर कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर : अपना घर पाने के लिए हम स्व-पर का भेदविज्ञान करेंगे अर्थात् अपने-पराए की पहिचान करेंगे; अपने आत्मा का ध्यान धरेंगे, उसमें ही लीन रहेंगे; राग-द्वेष आदि विकारी भावों का त्याग करेंगे और आत्मा के आनन्द का, ज्ञानानन्द रस का पान करेंगे।

अर्थात् अपने-पराए का भेदविज्ञान करने से, आत्मध्यान धरने से, राग-द्वेषादि नष्ट करने से और ज्ञानानन्द रस का पान करने से अपने घर/मुक्तिधाम/सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

○○○

D

पाठ १

देव स्तुति

वीतराग सर्वज्ञ हितंकर, भविजन की अब पूरो आस।
ज्ञान भानु का उदय करो, मम मिथ्यातम का होय विनास ॥
जीवों की हम करुणा पालें, झूठ वचन नहीं कहें कदा।
परधन कबहूँ न हरहूँ स्वामी, ब्रम्हचर्य व्रत रखें सदा ॥
तृष्णा लोभ बढ़े न हमारा, तोष सुधा नित पिया करें।
श्री जिनधर्म हमारा प्यारा, तिस की सेवा किया करें ॥
दूर भगावें बुरी रीतियाँ, सुखद रीति का करें प्रचार।
मेल-मिलाप बढ़ावें हम सब, धर्मोन्नति कर करें प्रसार ॥
सुख-दुख में हम समता धारें, रहें अचल जिमि सदा अटल।
न्याय-मार्ग को लेश न त्यागें, वृद्धि करें निज आत्मबल ॥
अष्ट करम जो दुख हेतु हैं, तिनके क्षय का करें उपाय।
नाम आपका जपें निरन्तर, विघ्न शोक सब ही टल जाय ॥
आत्म शुद्ध हमारा होवे, पाप मैल नहीं चढ़े कदा।
विद्या की हो उन्नति हम में, धर्म ज्ञान भी बढ़े सदा ॥
हाथ जोड़कर शीश नवावें, तुम को भविजन खड़े खड़े।
यह सब पूरो आस हमारी, चरण शरण में आन पड़े ॥

प्रश्न १ : देवस्तुति का सामान्य अर्थ लिखिए।

उत्तर : हे वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान भव्यजनों की इच्छा को पूर्ण कीजिए। आप ज्ञानरूपी सूर्य का उदय कीजिए, जिससे मेरे मिथ्यात्वरूपी अंधकार का नाश हो जाए।

हम प्राणी मात्र पर सदा करुणा भाव रखें, कभी भी झूठ वचन नहीं बोलें, कभी भी किसी की, कोई भी वस्तु न चुराएं, सदा ब्रम्हचर्य व्रत को धारण करें, हमारी तृष्णा नहीं बढ़े, हम लोभ न करें; सन्तोषरूपी अमृत का सदा पान करें अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन पापों से हम सब बचे रहें। हम अपने प्यारे जिन/जैनधर्म की सदा सेवा करें/उसे जीवन में अपनाएं।

हम बुरी रीतिओं को हटा दें तथा सुखद/अच्छी रीतिओं को सर्वत्र फैलावें। हम सभी परस्पर में मिल-जुलकर रहें तथा धर्म की अपने जीवन में उन्नति करते हुए उसे दूसरों को भी बताएं।

हम सुख-दुःख/अनुकूलता-प्रतिकूलता में सदा पर्वत के समान अडिग/स्थिर रहते हुए समता भाव धारण करें। किसी भी प्रसंग में न्यायमार्ग को तनिक भी नहीं छोड़ें तथा अपने आत्मबल को सदा बढ़ावें।

दुःख देने में कारणभूत आठों कर्मों को नष्ट करने का हम प्रयास करें तथा सदा आपका नाम जपते रहें/आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलते रहें। हमारी सभी विघ्न-बाधाएँ, दुःख आदि नष्ट हो जाएँ।

हमारा आत्मा शुद्ध हो जाए, उस पर पापरूपी मैल कभी भी नहीं चढ़े। विद्या की भी हममें वृद्धि हो तथा धर्म ज्ञान भी सदा बढ़ता रहे।

हे भगवन्! हम सभी भव्यजन आपको खड़े-खड़े हाथ जोड़कर सिर झुकाते हैं/नमस्कार करते हैं। हम आपके चरणों की शरण में आ गए हैं; हमारी ये सभी इच्छाएँ पूरी होवें।

प्रश्न २ : यह स्तुति किसकी है?

उत्तर : यह स्तुति सच्चे देव, वास्तविक भगवान की है।

प्रश्न ३ : सच्चे देव कौन हैं?

उत्तर : जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं अथवा वीतरागी और सर्वज्ञ हैं, वे सच्चे देव हैं।

प्रश्न ४ : भविजन किसे कहते हैं?

उत्तर : जो अपना कल्याण करना चाहते हैं, दुःखों को नष्टकर वास्तविक सुखी होना चाहते हैं; शांतिमय, निराकुल, तनाव रहित जीवन जीना चाहते हैं; उन्हें भविजन कहते हैं।

प्रश्न ५ : भविजन भगवान से क्या चाहता है?

उत्तर : भविजन भगवान से ज्ञानरूपी सूर्य को उदित करने का, मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नष्ट करने का उपाय सीखना चाहता है; पाँचों पापों से दूर रहना चाहता है, जिनधर्म की सेवा करना चाहता है, कुरीतिओं को नष्टकर सुरी-तिओं का प्रचार करना चाहता है, न्याय-नीति के मार्ग पर चलना चाहता है, लौकिक और धार्मिकज्ञान की उन्नति करते हुए दुःख के कारणभूत आठों कर्मों को नष्टकर आत्मा को पवित्र करने का उपाय सीखना चाहता है।

प्रश्न ६ : भक्तने सर्वप्रथम मिथ्यातम नष्ट करने की भावना क्यों व्यक्त की?
उत्तर : मिथ्यातम अर्थात् विपरीत मान्यतारूप अन्धकार नष्ट हुए बिना कभी भी आत्मा का पतन करने वाले पाप कार्य नष्ट नहीं होते हैं, वास्तविक सुख का अंश भी प्रगट नहीं होता है; धर्म का, मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता है; आत्मा पवित्र नहीं हो सकता है; अतः भक्तने सबसे पहले मिथ्यातम को नष्ट करने की भावना व्यक्त की है।

प्रश्न ७ : रीति का अर्थ बताते हुए उसके भेद लिखिए।

उत्तर : पूर्व प्रचलित परम्पराओं, पद्धतियों, क्रियाओं को रीति कहते हैं। सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्र सम्बन्धी बुरी रीतियों और अच्छी रीतियों के भेद से ये दो प्रकार की होती हैं।

प्रश्न ८ : बुरी रीतियों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अहितकारक, अनिष्टकारक, अज्ञानमय, प्रदूषित रीतियों को बुरी रीतियाँ कहते हैं। इन्हें हम सामाजिक और धार्मिक इन दो रूपों में देख सकते हैं— दहेजप्रथा, मृत्युभोज, जाति-पाँति सम्बन्धी छुआछूत, बाल-विवाह, लड़के-लड़कियों के पालन-पोषण में भेद करना, लड़कियों को शिक्षित नहीं करना, उन्हें निरन्तर दबाने का प्रयास करना, स्त्री को मात्र भोग्यवस्तु समझना इत्यादि सामाजिक कुरीतियाँ/बुरी रीतियाँ हैं।

भूत-प्रेत-व्यन्तर-देवी-दहाड़ी आदि की पूजा करना, भक्ति-पूजा आदि के नाम पर जीवों की हिंसा करना, राग में धर्म मानना, पंचामृत अभिषेक करना, लौकिक कामना से भगवान की भक्ति आदि करना, धर्म में ज्ञान का महत्त्व नहीं समझना; अज्ञानजन्य, देखादेखी शारीरिक क्रियाओं को करके ही स्वयं को धर्मात्मा मानना, नग्नता मात्र से गुरुता मानना इत्यादि धार्मिक बुरी रीतियाँ हैं।

प्रश्न ९ : सुखद रीतियाँ / अच्छी रीतियाँ क्या हैं?

उत्तर : हितकारक, इष्टकारक, शुद्ध, सात्त्विक रीतियों को सुखद/अच्छी रीतियाँ कहते हैं। इन्हें हम सामाजिक और धार्मिक इन दो रूपों में देख सकते हैं—

विवाह में धन को मुख्य न करना, बाल-विवाह न करना, स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना, मृत्युभोज आदि स्वीकार न करना, लड़कों के समान लड़कियों के भी पालन-पोषण का विशेष ध्यान रखना; उन्हें मात्र भोग्यवस्तु न मानकर, परिवार का, समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानकर उपेक्षित नहीं

करना; प्राकृतिक पर्यावरण संतुलन का विशेष ध्यान रखना इत्यादि सामाजिक अच्छी रीतियाँ हैं।

रागी-द्वेषी-कषायी देवी-देवताओं को न पूजना, धर्म में देखादेखी नहीं करना; यथार्थज्ञान करके, समझपूर्वक, परिणामों की पवित्रता के लिए ही धार्मिक क्रियाओं को करना, भगवान जैसा बनने के लिए ही उनकी भक्ति-पूजा करना, धर्म के नाम पर हिंसादि पाप नहीं करना इत्यादि धार्मिक अच्छी रीतियाँ हैं।

प्रश्न १० : आठों ही कर्म दुःख के कारण कैसे हैं?

उत्तर : आठों ही कर्म बंधनरूप होने के कारण दुःखस्वरूप, आकुलतामय, मोह-राग-द्वेष रूप विकारी परिणामों के कारण हैं। इनके माध्यम से हम पराधीन होते हैं, अपना शाश्वत वास्तविक वैभव प्राप्त नहीं कर पाते हैं; इनके कारण ही हम जन्म-मरण आदि अनन्त दुःख भोग रहे हैं। — इस प्रकार ये आठों ही कर्म दुःख के कारण हैं। सुखी होने के लिए इन सबका नाश आवश्यक है।

प्रश्न ११ : इन्हें नष्ट करने का उपाय क्या है?

उत्तर : इन्हें नष्ट करने का उपाय वास्तव में इन्हें नष्ट करना नहीं है, इनमें हस्तक्षेप करना नहीं है; अपितु ये हमारे जिन परिणामों का निमित्त पाकर बँधते हैं, उन्हें नष्ट करना है। पर से पूर्णतया भिन्न, अपने से अभिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी स्वयं को 'स्व' रूप में, अपनत्वपूर्वक जानकर, मानकर, जब उसमें ही लीनता होती है तो पर प्रवृत्ति न होने के कारण मोहादि विकारी भाव उत्पन्न ही नहीं होते हैं, जिससे कर्म-बन्ध भी नहीं होता है तथा बँधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। यह आठों ही कर्मों को नष्ट करने का उपाय है।

प्रश्न १२ : वीतराग किसे कहते हैं?

उत्तर : मोह, राग, द्वेष आदि सम्पूर्ण विकारों से रहित पूर्ण निर्विकारी, शुद्धदशा को वीतराग कहते हैं। जो जगत से पूर्णतया निरपेक्ष होने के कारण जगत को प्रभावित नहीं करते, जगत से प्रभावित नहीं होते; स्वयं में ही पूर्ण संतुष्ट, तृप्त रहते हैं, कृतकृत्य हैं, क्षुधादि अठारह दोषों से रहित सुखी और शान्त हैं, उन्हें वीतराग कहते हैं।

प्रश्न १३ : सर्वज्ञ किसे कहते हैं?

उत्तर : जो अपने पूर्ण प्रगट स्वतंत्र स्वाधीन ज्ञान से, दूसरों की सहायता लिए बिना, तीन काल-तीन लोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को, लोकालोक को, एक साथ, एक ही समय में प्रत्यक्ष जानते हैं, उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं।

प्रश्न १४ : हितोपदेशी किन्हें कहते हैं?

उत्तर : आत्महितकारी सच्चा और अच्छा उपदेश देने के कारण वे वीतराग और सर्वज्ञ देव ही हितोपदेशी कहलाते हैं।

प्रश्न १५ : वीतराग, सर्वज्ञ भगवान का ही उपदेश हितकारक क्यों होता है?

उत्तर : प्रायः मनुष्य मोह, राग, द्वेष के कारण या अज्ञानता के कारण ही अहितकर वचन बोलता है। भगवान वीतरागी होने के कारण उनके मोह, राग, द्वेष नहीं हैं; तथा सर्वज्ञ होने के कारण वे अज्ञानी नहीं हैं। वीतरागता के कारण उनका उपदेश अच्छा होता है तथा सर्वज्ञता के कारण उनका उपदेश सच्चा होता है। अच्छा और सच्चा उपदेश ही हितकारक होता है; अतः वीतराग, सर्वज्ञ भगवान का उपदेश ही हितकारक है। ○○○

मेरे आया सुखद सबेरा

तीन भुवन के स्वामी, मेरे आया सुखद सबेरा ।
आनन्द उर न समाये, प्रभुवर दर्शन पाया तेरा ॥१॥
वीतराग सर्वज्ञ प्रभो हम, सुनी नहीं जिनवाणी ।
कर्ता धर्ता तुमको माना, कर बैठा नादानी ॥
तुम तो साक्षीभूत जगत के, दूर हुआ भ्रम मेरा ॥१॥
कण-कण है स्वाधीन जगत का, तुमने प्रभुबतलाया ।
निज पर के कर्तापन का भ्रम, जिनवर दूर भगाया ॥
सर्व विकल्प शून्य आनन्दमय, जिनवर दर्शन तेरा ॥२॥
तन मन कर्म रंग रागादिक, देते भिन्न दिखाई ।
सम्यग्ज्ञान कला उर जागी, निज प्रभुता मैं पाई ॥
मुक्तस्वरूप अहो प्रगटा, अब सफल हुआ भव मेरा ॥३॥
सम्यक् हुई प्रतीति प्रभुवर, तुम सम ही प्रभु मैं हूँ ।
हूँ गुणधाम सहज अभिराम, सु आनन्द धाम सदा हूँ ॥
निज में ही रम जाऊँ विभुवर, अभिनन्दन है तेरा ॥४॥

प्रश्न १ : पाप किसे कहते हैं?

उत्तर : जीव को कुमार्ग में लगानेवाले, उसका पतन करनेवाले, दुःख के कारणभूत बुरे कामों को पाप कहते हैं। मिथ्यात्व और कषाय बुरे काम होने के कारण पाप हैं।

प्रश्न २ : पाप कितने हैं?

उत्तर : मुख्य रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह—ये पाँच पाप हैं।

प्रश्न ३ : लोभ को पाप का बाप क्यों कहते हैं?

उत्तर : लोभ के वश होकर जीव पाप करता है। लोभ से सभी पाप उत्पन्न होते हैं; अतः उसे पाप का बाप कहते हैं। जीवन के लोभ, आरोग्य के लोभ, धन-पैसे के लोभ, इज्जत के लोभ आदि के कारण, उस सम्बन्धी लालसा-तृष्णा के कारण जीव हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त होता है; अतः लोभ को पाप का बाप (उत्पन्न करनेवाला) कहा जाता है।

प्रश्न ४ : पाप क्यों उत्पन्न होते हैं?

उत्तर : मिथ्यात्व और कषाय के कारण पाप उत्पन्न होते हैं। उनमें से भी यह जीव मिथ्यात्व के कारण घोरतम पाप, अनगिनत, अनन्त पाप करता है। मिथ्यात्व नष्ट हो जाने पर मात्र कषायों से घोरतम पाप उत्पन्न नहीं होते हैं तथा क्रमशः कषायों के नाश से वे नष्ट भी हो जाते हैं; अतः वास्तव में तो विश्वव्यापी पापों में प्रवृत्ति एकमात्र मिथ्यात्व के कारण होती है।

प्रश्न ५ : मिथ्यात्व किसे कहते हैं और उसे नष्ट करने का क्या उपाय है?

उत्तर : मिथ्या=गलत/असत्य/विपरीत; त्व=भाव/पना। वस्तु के संबंध में विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। लोक में यह देखा जाता है कि किसी व्यक्ति या वस्तु के सम्बन्ध में गलत धारणा, विपरीत मान्यता हो जाने पर वह हमें वैसी ही दिखने लगती है। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' का भी यही अभिप्राय है। वस्तु जैसी नहीं है, वैसी मानना मिथ्यात्व है। जैसे शरीर अपना नहीं है, फिर भी उसे अपना मानना; पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में सुख नहीं है, फिर भी उन्हें सुखमय और सुख का कारण मानना; कोई किसी का अच्छा-

बुरा कुछ भी नहीं कर सकता, फिर भी स्वयं को तथा दूसरों को परस्पर में अच्छा-बुरा करने वाला मानना इत्यादि मान्यताएँ वस्तु-स्वरूप के विरुद्ध होने के कारण मिथ्यात्व कहलाती हैं।

आत्मोन्नति के संदर्भ में दृष्टि अर्थात् मान्यता का सर्वाधिक महत्त्व है। हमारी मान्यता यदि वस्तु-स्वरूप से विपरीत रही तो अथक प्रयास करने पर भी पाप नहीं छूट सकते, जीव सुख-शांति नहीं पा सकता तथा यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से वस्तु का सही स्वरूप समझकर, उसके अनुसार हमारी मान्यता सही हो गई, तो नियम से पाप नष्ट होकर जीवन सुख शांति-मय बन जाता है।

इस प्रकार जब हम जिनवाणी के, जैन शास्त्रों के स्वाध्याय, अध्ययन, मनन, चिन्तन आदि के माध्यम से सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का निर्णयकर, उनके द्वारा बताए गए अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर उसमें ही लीन होते हैं; तो मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है। इससे कषायें और पाप भी नष्ट हो जाते हैं। मिथ्यात्व नष्ट हुए बिना संसार-परिभ्रमण नहीं छूटता है, दुःखों से जीव की मुक्ति नहीं होती है; अतः सबसे पहले उसे ही नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ६ : हिंसा किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर : घात करना, मारना, दिल दुखाना, कष्ट देना इत्यादि तथा इस प्रकार के भाव, हिंसा पाप कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा।

१. द्रव्य हिंसा— किसी जीव को मारना, सताना, चिढ़ाना, कष्ट देना, उसका दिल दुखाना, घात करना आदि, द्रव्य हिंसा है।

२. भाव हिंसा— अपने आत्मा में मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों का उत्पन्न होना, किसी भी दूसरे को देखकर किसी भी प्रकार का मंद-तीव्र कषाय भाव उत्पन्न होना, भाव हिंसा है। इन भावों से आत्मा का घात होता है; अपनी सुख-शांति नष्ट होती है, आत्मघाती महापापी होता है; अतः ये भाव, भाव हिंसा हैं।

वास्तव में हिंसा पाप में भाव हिंसा ही प्रमुख है; क्योंकि इसके हो जाने पर द्रव्य हिंसा न होने पर भी कर्म का बंध हो जाता है तथा इसके न होने पर किसी कारणवश द्रव्य हिंसा हो जाने पर भी कर्म-बंध नहीं होता है; अतः वस्तुस्वरूप की समझ केवल पर सर्वप्रथम इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ७ : असत्य पाप किसे कहते हैं? और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर : वस्तु जैसी नहीं है, वैसा जानना, बोलना, कहना, आचरण करना इत्यादि तथा वैसा भाव, असत्य पाप है। इसके दो भेद हैं—द्रव्य असत्य और भाव असत्य।

१. द्रव्य असत्य— किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में उसका यथार्थ स्वरूप समझे बिना कुछ भी कहना, द्रव्य असत्य है।

२. भाव असत्य— वस्तु का यथार्थ स्वरूप न समझकर, न पहिचानकर, अपनी विपरीत मान्यता के अनुसार, उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने, बोलने का भाव, भाव असत्य पाप है। इसी प्रकार आत्मा या धर्म के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी या पहिचान के बिना कुछ भी मानना, जानना, भाव असत्य पाप है। दुःख के कारणभूत इस पाप के कारण हम स्वयं आकुलित होते हैं तथा दूसरों को भी सुख-शांति के मार्ग से भ्रष्ट करते हैं; अतः वस्तु का सही स्वरूप जानकर पहिचानकर, तदनुसार आचरण द्वारा इस पाप को नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ८ : चोरी पाप किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर : किसी की पड़ी हुई, रखी हुई, भूली हुई वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना स्वयं उठा लेना या उठाकर दूसरों को दे देना तथा वैसे भाव करना, चोरी पाप है। इसके दो भेद हैं—द्रव्य चोरी और भाव चोरी।

१. द्रव्य चोरी— किसी की पड़ी हुई, रखी हुई, भूली हुई वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना स्वयं उठा लेना, दूसरों को उठाने के लिए कहना या उठाकर दूसरों को दे देना, द्रव्य चोरी है।

२. भाव चोरी— दूसरों की वस्तु को ग्रहण करने का भाव करना, भाव चोरी है। यह भाव उत्पन्न हो जाने पर परिस्थिति वश उस वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाने पर भी चोरी पाप हो जाता है। द्रव्य चोरी पाप भी इसके माध्यम से ही होता है; अतः सदा ही अपनी वस्तु में संतुष्ट रहकर इसे नष्ट करने का प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न ९ : कुशील पाप किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : अपने शील, स्वभाव से विरुद्ध मन में विषय-वासना होना, बुरी दृष्टि होना, कुशील पाप है। इसके द्रव्य कुशील और भाव कुशील ये दो भेद हैं।

१. द्रव्य कुशील— किसी पुरुष का अपनी विवाहिता पत्नी को छोड़कर

अन्य माँ, बहिन, बेटियों को बुरी निगाह से देखना, कुचेष्टाएँ करना आदि अथवा किसी स्त्री का अपने विवाहित पति को छोड़कर अन्य पिता, भाई, बेटों रूप पर पुरुषों को बुरी निगाह से देखना, कुचेष्टाएँ करना आदि, द्रव्य कुशील है।

२. भाव कुशील— अपने स्वभाव से भ्रष्ट हो, पर पदार्थों को भोगने का भाव उत्पन्न होना, अपने अन्दर विषय-वासनाएँ उत्पन्न होना, भाव कुशील है। कुशील सम्बन्धी भाव उत्पन्न हो जाने पर परिस्थितिवश द्रव्य कुशील न हो पाने पर भी कुशील पाप से कर्मबंध हो जाता है; अतः अपने शील, स्वरूप में लीनता के बल पर इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न १० : परिग्रह पाप किसे कहते हैं और इसके कितने भेद हैं?

उत्तर : परि+ग्रह=परिग्रह। परि=सब ओर से, ग्रह=ग्रहण करना, संग्रह करना अर्थात् सब ओर से पर पदार्थों का संग्रह करना या संग्रह करने का भाव करना, परिग्रह पाप है। इसके द्रव्य परिग्रह और भाव परिग्रह—ये दो भेद हैं।

१. द्रव्य परिग्रह— धन, धान्य, खेत, मकान, पशु, पक्षी, नौकर, नौकरानी, आसन, वाहन, वस्त्र, बर्तन आदि पदार्थ इकट्ठे करना, जोड़ना, द्रव्य परिग्रह है।

२. भाव परिग्रह— पर पदार्थों सम्बन्धी राग भाव, मूर्छा, ममत्व परिणाम, उन्हें अपना मानना आदि परिणाम, भाव परिग्रह है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष-वेद, नपुंसकवेद आदि रूप विकारी भाव, भाव परिग्रह हैं। इन भावों के होने पर परिस्थितिवश द्रव्य परिग्रह न होने पर भी परिग्रह पाप के कारण कर्मबंध हो जाता है; अतः अपने आत्मा को ग्रहण करने के बल पर इस परिग्रह पाप को नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। इस पाप में सभी विकारी भाव गर्भित हो जाने के कारण यह पाप सबसे बड़ा पाप है; अतः इसे नष्ट करने के लिए स्वोन्मुखी अनंत पुरुषार्थ आवश्यक है।

प्रश्न ११ : मिथ्यात्व और कषायें परिग्रह कैसे हैं?

उत्तर : मिथ्यात्व और कषायें अपने से भिन्न होने पर भी, अन्य पदार्थों के समान हम उनका संग्रह करते हैं; अतः वे परिग्रह हैं। वह इस प्रकार—

यद्यपि सीधे रूप में तो हम मिथ्यात्व और कषायों को बुरा ही कहते हैं; तथापि परोक्ष रूप में 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं' अथवा धन आदि बहुत

होगा तो हम धर्म कर सकेंगे इत्यादि रूपों में परपदार्थों को हितकर मानने रूप मिथ्यात्व का पोषण, संग्रह करते रहते हैं; अतः मिथ्यात्व परिग्रह है।

इसी प्रकार अनुशासन-प्रशासन आदि के नाम पर क्रोध का, स्वाभिमान आदि के नाम पर मान का, चतुराई-विवेक आदि के नाम पर माया का और मितव्ययिता आदि के नाम पर लोभ का संग्रह, पोषण करते रहते हैं; अतः ये भी परिग्रह हैं।

इसी प्रकार प्रसन्न-चित्तता, वात्सल्य आदि के नाम पर हास्यादि कषायों को भी हम पुष्ट करते हैं; अतः ये भी परिग्रह हैं।

इस प्रकार अन्य पदार्थों के समान इनका भी संग्रह करने के कारण मिथ्यात्व, कषाय आदि सभी विकारी भाव परिग्रह हैं।

प्रश्न १२ : पापों से बचने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

उत्तर : सभी पापों की जड़ मिथ्यात्व और कषायें हैं अर्थात् शरीरादि परपदार्थों को अपना मानने-जानने से; उन्हें इष्ट-अनिष्ट, अनुकूल-प्रतिकूल मानकर तदनुसार राग-द्वेष रूप परिणामन से ही पाप उत्पन्न होते हैं; अतः उन्हें नष्ट करने के लिए मिथ्यात्व और कषायें नष्ट करना चाहिए अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझकर तदनुसार अपना ज्ञान, श्रद्धान और आचरण होने पर पाप भाव उत्पन्न ही नहीं होते अर्थात् सम्पूर्ण पाप भाव नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न १३ : क्या सत्य समझे बिना सत्य बोला जा सकता है?

उत्तर : नहीं। सत्य समझे बिना सत्य नहीं बोला जा सकता। सत्य समझ में न आने पर जो भी बोला जाएगा, वह नियम से असत्य ही होगा; अपने और पर को ठगने का ही कारण बनेगा; सत्यमार्ग से अनभिज्ञ व्यक्ति के वे वचन दोनों को ही संसार-भ्रमण के कारण बनेंगे; अतः सत्य बोलने के पूर्व सत्य समझना परमावश्यक है।

○○○

परम गुरु बरसत ज्ञान झरी

हरसि हरसि बहु गरजि-गरजि के मिथ्या तपन हरी ॥टेक ॥
सरधा भूमि सुहावनि लागे, संशय बेल हरी।
भविजन मन सरवर भरि उमड़े, समुझि पवन सियरी ॥१॥
स्याद्वाद नय बिजली चमके, पर-मत शिखर परी।
चातक मोर साधु श्रावक के, हृदय सु भक्ति भरी ॥२॥
जप तप परमानन्द बढ़्यो है, सुखमय नीव धरी।
“द्यानत” पावन पावस आयो, थिरता सुरु करी ॥३॥

प्रश्न १ : कषाय किसे कहते हैं? और इसके कितने भेद हैं?

उत्तर : जो आत्मा को कसती हैं, दुःख देती हैं; उन्हें कषाय कहते हैं। जिनके कारण संसार की प्राप्ति होती है, ऐसे राग-द्वेष रूप विकारी भावों, विभावों को कषाय कहते हैं। इसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रश्न २ : कषाय को विभाव क्यों कहा जाता है?

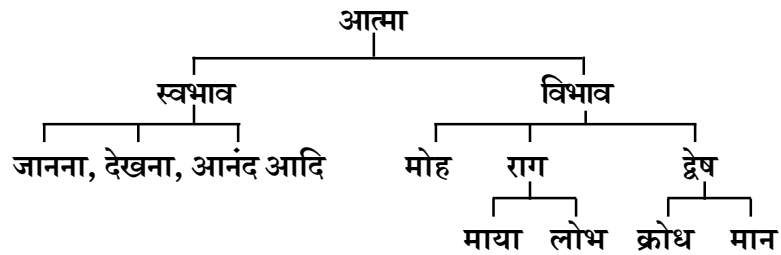
उत्तर : आत्मा का विपरीत परिणामन होने से इसे विभाव कहते हैं। वि=विपरीत, भाव=परिणामन। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-आनन्दमय है। इसका कार्य जानना-देखना है; क्रोधादि करना नहीं है। मिथ्यात्व और राग-द्वेषादि कषायें ज्ञानानन्द स्वभाव से विपरीत होने के कारण विभाव कहलाती हैं।

प्रश्न ३ : राग-द्वेष किसे कहते हैं? उनमें से किसमें कौन सी कषायें गर्भित होती हैं?

उत्तर : किसी पदार्थ को अच्छा, इष्ट, हितकारी, अनुकूल समझकर, मानकर, उसे प्राप्त करने, अपनाने की इच्छा, राग कहलाती है; और किसी को बुरा, अनिष्ट, अहितकारी, प्रतिकूल समझकर, मानकर, उसे दूर करने, नष्ट करने की इच्छा, द्वेष कहलाती है। कषाय राग-द्वेष का ही दूसरा नाम है। राग में माया और लोभ तथा द्वेष में क्रोध और मान गर्भित होते हैं।

प्रश्न ४ : आत्मा के स्वभाव-विभाव को चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :



प्रश्न ५ : क्रोध किसे कहते हैं? वह उत्पन्न क्यों होता है? उसे नष्ट करने का उपाय क्या है?

उत्तर : क्रोध करना, चिढ़ना, झुँझलाना, क्षुब्ध होना, गुस्सा करना, खेद-खिन्न होना इत्यादि क्रोध कहलाता है। मुख्य रूप से जब हम ऐसा मानते हैं कि किसी दूसरे ने मेरा बुरा किया; मेरी असफलता का, हानि का कारण कोई दूसरा है; तब प्रायः उसके सम्बन्ध में क्रोध उत्पन्न होता है।

तत्त्वज्ञान के बल पर जब हमें कोई भी किसी अन्य का अच्छा-बुरा करने वाला नहीं लगेगा, तब क्रोध भी उत्पन्न नहीं होगा; अतः क्रोध नष्ट करने के लिए तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ६ : मान किसे कहते हैं? वह उत्पन्न क्यों होता है? उसे नष्ट करने का उपाय क्या है?

उत्तर : घमण्ड करना, गर्व करना, दूसरों से अपने को छोटा मानना, दीन-हीन मानना इत्यादि पर से अपना मूल्यांकन करने रूप सभी परिणाम मान कषाय हैं। मुख्यतया जब हम ऐसा मानते हैं कि शरीर, धन, सम्पत्ति आदि जगत के पर पदार्थ मेरे हैं, मैं उनका स्वामी हूँ, तब उन सम्बन्धी मान उत्पन्न होता है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब हमें पदार्थों की सही जानकारी होती है, यह ज्ञात होता है कि शरीर आदि कोई भी पर पदार्थ कभी भी किसी के बदन नहीं सकते, वे स्थायी भी नहीं हैं, तब उनके सम्बन्ध में मान कषाय भी पैदा नहीं होती है; अतः मान नष्ट करने-हेतु तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ७ : माया कषाय किसे कहते हैं? वह क्यों उत्पन्न होती है? उसे नष्ट करने का उपाय क्या है?

उत्तर : मायाचारी, छल-कपट, बंचना, ठगना इत्यादि माया कषाय हैं। इस कषाय सहित जीव की प्रवृत्ति कभी भी एक सी नहीं रह पाती है। उसके मन में कुछ दूसरा होता है, वचनों से कुछ दूसरा ही बोलता है और करता कुछ दूसरा ही है। मायाचारी मरकर पशु/तिर्यच होता है।

जब हम यह समझते हैं कि छल-कपट करने से काम सिद्ध हो सकते हैं, इसके बिना उस काम को करने की मेरी क्षमता नहीं है; अथवा हम जैसे हैं, जिस रूप में हैं; वैसे और उस रूप में दूसरों को दिखाना नहीं चाहते हैं, तब माया कषाय उत्पन्न होती है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब हमें यह ज्ञान होता है कि लौकिक कार्यों की सिद्धि पुण्य के उदय से होती है, छल-कपट से नहीं; छल-कपट से तो मात्र पाप ही बँधता है, जिसका फल हमें स्वयं ही भोगना पड़ता है। इसी प्रकार

दुनियाँ हमें किस रूप में जानती-देखती है, मानती है, उसका फल हमें नहीं मिलता है; हमें तो अपने ही परिणामों का फल भोगना पड़ता है, तो माया कषाय उत्पन्न नहीं होती है; अतः माया कषाय नष्ट करने के लिए हमें तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ८ : लोभ कषाय किसे कहते हैं? वह क्यों उत्पन्न होती है? उसे नष्ट करने का उपाय क्या है?

उत्तर : आसक्ति, चाह, इच्छा, लालसा, अनुराग, संग्रह करने का भाव, प्रेम, प्रीति इत्यादि लोभ कषाय हैं। जब हम अपने वैभव से संतुष्ट नहीं होते, तब पर की ओर आकर्षित होने के कारण लोभ कषाय उत्पन्न हो जाती है। यह कषाय सब पापों को उत्पन्न करने वाली होने से पापों की बाप कहलाती है। 'लोभ पाप कौ बाप बखानो' – इसका यही अभिप्राय है। सम्पूर्ण विकार इस कषाय में गर्भित हैं।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब हम अपने वैभव को जानकर, पहिचान कर, उसमें ही संतुष्ट रहते हैं, तो लोभ कषाय उत्पन्न नहीं होती है; अतः लोभ कषाय नष्ट करने के लिए तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ९ : मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सम्पूर्ण विभाव कैसे नष्ट हों? अथवा ज्ञानानन्द स्वभाव कैसे प्रगट हो?

उत्तर : वस्तु-स्वरूप की अजानकारी के कारण अपने अन्दर उत्पन्न होनेवाली विपरीत मान्यता से हमें परपदार्थ अपने भासित होते हैं, अनुकूल-प्रतिकूल लगते हैं; अतः सभी विभाव उत्पन्न होते हैं। तत्त्वज्ञान के माध्यम से जब हमें पदार्थों का सही स्वरूप ज्ञात होता है, तब हम किसी भी पर-पदार्थ को अपना नहीं मानते, उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल भी नहीं मानते; एकमात्र अपने ज्ञानानन्द स्वभावी शुद्धात्मा को ही अपना जानकर, मानकर, उसमें ही लीन रहने का प्रयास करते हैं। अपने में पूर्णलीनता के बल पर सम्पूर्ण विभाव नष्ट हो जाते हैं; आत्मा पूर्ण शुद्ध, निर्विकारी शाश्वत सुखमय हो जाता है अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभाव प्रगट हो जाता है।

○○○

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंगज ईधन ढोवै।
कंचन भाजन धूल भरै शठ, मूढ़ सुधारस सौं पग धोवै ॥
वाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै।
त्यो यह दुर्लभ देह बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवै ॥

प्रश्न १ : सदाचार किसे कहते हैं? वह कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : सद्/सत्+आचार=सदाचार। सत्=वास्तविक, समीचीन, हितकर। आचार=प्रवृत्ति, आचरण। वास्तविक, समीचीन, हितकर, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्यवर्धक, अहिंसक प्रवृत्तियों को; आचरण को, क्रियाओं को सदाचार कहते हैं। उसके आन्तरिक सदाचार और बाह्य सदाचार—ये दो भेद हैं।

हिंसा-असत्य आदि पापों, क्रोधादि कषायों, पंचेन्द्रिय विषयों, हठीली वृत्तियों/परिणामों/क्रियाओं के त्याग को आन्तरिक सदाचार कहते हैं।

रात्रि-भोजन त्याग, अनछने जल के त्याग, मद्य-मांस-मधु आदि अभक्ष्य पदार्थों के त्याग को बाह्य सदाचार कहते हैं।

प्रश्न २ : क्रोध करना बुरा क्यों है?

उत्तर : क्रोध करने से अपनी शांति नष्ट होती है; इस लोक में बदनामी, अपयश होता है; परलोक में भी दुःख भोगना पड़ता है। क्रोध से वर्तमान तथा परलोक संबंधी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता; अपितु वर्तमान में तनाव बढ़ता है, कलह बढ़ती है, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होने से अनेक बीमारियाँ बढ़ती हैं; कर्म-बंध अधिक होता है, कभी-कभी तो अपना और दूसरों का जीवन भी धोखे में पड़ जाता है; अतः क्रोध करना बुरा है।

प्रश्न ३ : रात्रि भोजन में क्या-क्या दोष हैं?

उत्तर : रात्रि भोजन से अनेकों बीमारियाँ हो जाती हैं, कभी-कभी जीवन भी धोखे में पड़ जाता है; लालसा अधिक होने से राग की तीव्रता होती है, जिससे पाप-बंध अधिक होता है, आत्मसाधना में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं इत्यादि अनेकों दोष रात्रि-भोजन में हैं। इसके विस्तार के लिए प्रस्तुत कृति के पृष्ठ २७ पर दिए गए प्रश्न १२ के उत्तर को पुनः पढ़ना चाहिए।

प्रश्न ४ : पानी छानकर ही काम में क्यों लेना चाहिए?

उत्तर : स्वच्छ दिखनेवाले अनछने पानी की एक बूँद में जिनवाणी के अनुसार असंख्यात स्थावर जलकायिक तथा संख्यात त्रस जीव हैं। वैज्ञानिकों द्वारा

भी प्रयोगशाला में सूक्ष्मदर्शी यंत्र से हजारों/ ३६४५० त्रस जीव देखे गए हैं। बिना छने पानी में इतने जीव सदा विद्यमान रहते हैं; अतः उसका ऐसे ही उपयोग करने पर उन जीवों की हिंसा हो जाती है, जिससे हमें पाप का बंध होता है तथा उन जीवों का शरीर उस पानी में विद्यमान रहने से अनेकानेक रोग उत्पन्न होते हैं। नारु (वाला) रोग अनछना पानी पीने से ही उत्पन्न होता है। अनछने पानी से स्नान आदि करने पर अनेक प्रकार के चर्म रोग पैदा हो जाते हैं। अनछना पानी पीनेवाला प्राणी शराब पीने तथा होटल आदि में बने भोजन आदि के सेवन से भी नहीं बच पाता है; जिससे शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य, गृहस्थी, धन, इज्जत आदि सभी कुछ नष्ट हो जाता है।

अतः शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य, पारिवारिक शांति, आत्मिक उन्नति तथा अहिंसात्मक सुखमय जीवन की इच्छा रखनेवाले जीव को कभी भी अनछना पानी काम में नहीं लेना चाहिए।

प्रश्न ५ : सभा-संचालन की पद्धति क्या है ?

उत्तर : सभा को व्यवस्थित पद्धति से संचालित करने के लिए संचालक एक अध्यक्ष का चुनाव कर उसे ससम्मान उच्चासन पर विराजमान करता है। इसके बाद अध्यक्ष की आज्ञानुसार संचालक अथवा कभी-कभी स्वयं अध्यक्ष ही सभा का संचालन करता है। श्रोताओं को चाहिए कि वे अध्यक्ष का सम्मान करते हुए सभा में शांति से बैठें। यदि किन्हीं का भाषण सुनकर उन्हें कोई प्रश्न उत्पन्न हुआ हो तो अध्यक्ष से आज्ञा लेकर ही भाषणकर्ता से प्रश्न पूछना चाहिए। अध्यक्ष को चाहिए कि वह अपने पद की गरिमा बनाए रखते हुए श्रोताओं की शंकाओं का यथायोग्य समाधान करे।

इस प्रकार बुद्धि-विवेक पूर्वक शांतिपूर्ण पद्धति से सभा का संचालन करना चाहिए।

○○○

गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए

अपने दोषों के कारण और कर्ता हम स्वयं ही हैं।

अपने दोषों का कारण दूसरों को मानना भयंकर अपराध है।

दोषों की उत्पत्ति का मूल कारण स्व-पर की पृथक्ता का अज्ञान है;

दोषों के नाश का एक मात्र उपाय निर्दोष आत्मस्वरूप का दर्शन है।

प्रश्न १ : गति किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जीव की अवस्था विशेष को गति कहते हैं। गति नामक नामकर्म के उदय में होनेवाले जीव के मनुष्य आदि विशेष प्रकार के भावों को, आकार-प्रकारों को गति कहते हैं। वास्तव में जीव किसी गतिवाला नहीं है, वह तो गतिओं से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा है। मनुष्यादि गतिओं में रहने के कारण वह मनुष्यादि गतिवाला कहलाता है।

वैसे तो इस संसारी जीव की अवस्थाएँ अनेकों हैं; पर संक्षेप में उन्हें चार भागों में वर्गीकृत किया जाता है अर्थात् सामान्य रूप में गति के चार भेद हैं—मनुष्यगति, तिर्यचगति, नरकगति और देवगति।

प्रश्न २ : मनुष्यगति किसे कहते हैं ? वह किस अपराध का फल है ?

उत्तर : जब यह जीव कहीं से मरकर मनुष्य आयु, मनुष्यगति आदि कर्म के उदय में मनुष्यगति में जन्म लेता है, मनुष्य शरीर धारण करता है, तब उसे मनुष्य कहते हैं। हम, आप भी मनुष्यगति में रहने के कारण मनुष्य कहलाते हैं; वास्तव में तो हम, आप ज्ञानानन्द-स्वभावी शाश्वत आत्मा हैं।

अल्प आरम्भ करने और अल्प परिग्रह रखने के भावरूप अपराध से तथा वर्तमान पर्यायगत स्वभाव की सरलतारूप अपराध से मनुष्य आयु-गति का बंध होता है; जिसका उदय आने पर इस जीव को मनुष्यगति मिलती है।

प्रश्न ३ : तिर्यचगति किसे कहते हैं ? वह किस अपराध का फल है ?

उत्तर : जब जीव कहीं से मरकर, तिर्यच आयु, तिर्यचगति आदि कर्म के उदय में तिर्यचगति में जन्म लेता है, तिर्यच शरीर धारण करता है, तब उसे तिर्यच कहते हैं। गाय, भैंस, कुत्ता, कबूतर, मक्खी, मच्छर, चींटी, पेड़-पौधे, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि सभी तिर्यचगति में रहने के कारण तिर्यच जीव कहलाते हैं; पर वास्तव में जीव तिर्यच नहीं होता है।

मायाचारी, कुटिलता, बंचना, ठगना, फसाना, छल-कपट आदि रूप

अपराध से तिर्यच आयु-गति का बंध होता है; जिसका उदय आने पर इस जीव को तिर्यचगति मिलती है।

प्रश्न ४ : नरकगति किसे कहते हैं ? वह किस अपराध का फल है?

उत्तर : जब कोई मनुष्य या तिर्यचगति में स्थित जीव मरकर नरक आयु, नरकगति आदि कर्म के उदय में नरकगति में जन्म लेता है, नारकी का शरीर धारण करता है; तब उसे नारकी कहते हैं। वास्तव में जीव नारकी नहीं होता है।

अभी हम जहाँ रह रहे हैं, उस पृथ्वी के नीचे अधोलोक में सात पृथ्वियाँ हैं। जिनके नाम रत्नप्रभा आदि हैं। उनमें ८४ लाख नरक हैं। वहाँ का वातावरण अत्यंत दुःखदायी है। वहाँ किसी भाग में शरीर को जला देनेवाली गर्मी/उष्णता है और कहीं शरीर को गला देनेवाली भयंकर ठंड है। वहाँ अन्न-पानी का पूर्णतया अभाव है। वहाँ के जीव तीव्र कषायी होने के कारण आपस में सतत लड़ते-झगड़ते रहते हैं। जो मनुष्य या तिर्यच मरकर ऐसे संयोगों में उत्पन्न होते हैं, उन्हें नारकी कहते हैं। पाप का फल भोगने का स्थान नरकगति है।

बहुत आरंभ करने और बहुत परिग्रह रखने के भावरूप अपराध से मनुष्य या तिर्यच को नरक आयु-गति का बंध होता है; जिसका उदय आने पर इस जीव को नरकगति मिलती है।

प्रश्न ५ : देवगति किसे कहते हैं ? वह किस अपराध का फल है?

उत्तर : जब कोई मनुष्य या तिर्यच गति में स्थित जीव मरकर देव आयु, देव-गति आदि कर्म के उदय में देवगति में जन्म लेता है, देव का शरीर धारण करता है, तब उसे देव कहते हैं। वास्तव में जीव देव नहीं होता है। पुण्य का फल भोगने का स्थान देवगति है।

संयमभाव के साथ रहनेवाले शुभभावमय रागांश, असंयम के साथ रहने वाले मंद कषायमय भाव और अज्ञान पूर्वक किए गए तपश्चरण के भावरूप अपराध से मनुष्य या तिर्यच को देव आयु-गति का बंध होता है। जिसका उदय आने पर इस जीव को देवगति मिलती है।

प्रश्न ६ : मनुष्य और तिर्यच गति संबंधी जीव तो हमें दिखाई देते हैं; अतः उन्हें स्वीकार करना ठीक है; परन्तु नरक और देवगति तो आँखों से दिखाई नहीं देती, तब उन्हें कैसे स्वीकार किया जाए ?

उत्तर : यद्यपि ये दोनों गति आँखों से दिखाई नहीं देती हैं; तथापि पूर्ण

वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान ने इन्हें प्रत्यक्ष देखकर बताया है; अतः स्वीकार करना ही चाहिए।

तर्क से भी तो इनकी सिद्धि होती है। वह इस प्रकार – जैसे किसी मनुष्य ने यहाँ हजारों जीवों का घात किया, अंत में यदि वह पकड़ा गया तो सरकार उसे मात्र एक बार ही फाँसी की सजा देती है। एक बार में ही शरीर नष्ट हो जाने से उसे अन्य पापों की सजा यहाँ तो न मिल सकेगी; तब फिर अवश्य कोई ऐसा स्थान होना चाहिए; जहाँ उसे इन सब पापों की सजा मिल सके; उसका शरीर भी वैसा हो, जो हजारों बार फाँसी पर चढ़ा दिए जाने पर भी नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो; उस स्थान का नाम नरक है। वहाँ वैक्रियिक शरीर होने के कारण उसे तिल-तिल के बराबर टुकड़ों में खण्डित कर दिए जाने पर भी क्षणभर में पुनः एक अखण्ड शरीर बन जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण पापों को भोगने के स्थान रूप में नरकगति है।

इसी प्रकार यदि यहाँ किसी मनुष्य ने पूर्ण जीवन भर अनेकों अच्छे-अच्छे कार्य किए, तो भी समाज या सरकार तो उसे एक-दो बार ही सम्मानित कर सकेगी, सम्पूर्ण अच्छे कार्यों का फल उसे यहाँ नहीं मिल सकेगा; तब फिर अवश्य कोई ऐसा स्थान होना चाहिए, जहाँ उसे अपने सम्पूर्ण अच्छे कार्यों का फल मिल सके। उस स्थान का नाम स्वर्ग है। वहाँ सभी प्रकार की सुन्दर-तम लौकिक अनुकूलताओं की प्राप्ति, दिव्य-निरोग शरीर आदि उसी के फल हैं।

यह भी एक सर्व विदित तथ्य है कि जीव जहाँ से आता है, प्रायः वहाँ के संस्कार अगले भव में बिना सिखाए ही देखे जाते हैं। एक-दो वर्ष के छोटे-छोटे बच्चों में बिना कुछ सिखाए ही अनेक प्रकार के संस्कार दिखाई देते हैं, जिनसे विविध गतिओं की सिद्धि स्वतः हो जाती है।

प्रश्न ७ : उपर्युक्त चारों गतिओं में सबसे अच्छी गति कौन सी है?

उत्तर : चारों ही गति आँ अपने अपराधों की सजा भोगने के स्थान होने से, यहाँ जन्म, मरण, आकूलता, पराधीनता इत्यादि अनेकों दुःख होने के कारण तथा सभी स्वयं संसाररूप होने के कारण, इनमें से कोई भी गति अच्छी नहीं है। इन सभी से पूर्णतया भिन्न एकमात्र सिद्धगतिरूप पंचमगति ही पूर्ण निरा-कुल आनन्दमय होने से अच्छी है।

प्रश्न ८ : देवगति में तो सभी प्रकार की लौकिक सुख-सुविधाएँ विद्यमान हैं, वहाँ कोई शारीरिक रोग भी नहीं है, तब उसे अच्छी गति क्यों नहीं कह सकते?

उत्तर : देवगति में लौकिक सुख-सुविधाओं, भोग-सामग्रियों की बहुलता होने पर भी वास्तव में वहाँ जन्म-मरण, आकुलता आदि दुःखों का अभाव नहीं है। देवगति के जीव इन्द्र-अहमिन्द्र आदि भी पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की लालसा, वासना से पीड़ित हैं। मोह, राग, द्वेष आदि अपराधी वृत्तिओं निरंतर विद्यमान होने से उन्हें भी निरंतर कर्मों का बंध होता रहता है, जिसका फल उन्हें भोगना पड़ता है, कभी-कभी तो परिणाम इतने आर्तध्यानमय हो जाते हैं कि दूसरे स्वर्ग तक के देव मरकर एकेन्द्रिय वनस्पति आदि भी हो जाते हैं तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव मरकर पंचेन्द्रिय तिर्यच भी हो जाते हैं।

इस प्रकार अपने अपराध की सजा भोगने का स्थान होने से तथा आकुलतामय संसाररूप होने से, भोग-सामग्री की बहुलता होने पर भी यह गति अच्छी नहीं है।

प्रश्न ९ : सिद्धगति की प्राप्ति मनुष्यगति से ही होती है; अतः मनुष्यगति को तो अच्छा कहना ही चाहिए।

उत्तर : सभी गतिओं के समान मनुष्यगति भी अपने अपराधों की सजा भोगने का स्थान होने से तथा आकुलतामय संसाररूप होने से वास्तव में अच्छी नहीं है। यहाँ से सिद्धगति की प्राप्ति भी सभी जीव नहीं कर सकते। एकमात्र वे ही जीव कर पाते हैं, जो मनुष्यादि सम्पूर्ण गतिओं से त्रिकाल भिन्न तथा उन संबंधी अपराधी भावों से सर्वथा भिन्न अपने त्रिकाली ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान् आत्मा की आराधना के बल पर इस मनुष्यगति के व्यवहार से भी रहित हो जाते हैं। मनुष्यगति आदि सभी गतिओं, सभी कर्मों, सभी अपराधों के अभाव में सिद्धदशा प्रगट होती है। मनुष्यगति का सदुपयोग करके जो अन्तरोन्मुखी सम्यक् पुरुषार्थ करते हैं, वे सिद्धदशा प्राप्त करते हैं; अन्यथा इसके दुरुपयोग में तो नरक-निगोद की भी प्राप्ति हो जाती है।

वास्तव में तो मनुष्यगति भी स्वयं संसाररूप आकुलतामय होने के कारण बुरी ही है, अच्छी नहीं है।

प्रश्न १० : यदि सभी गतिओं हमारे अपराधों के फल हैं, तो निरपराधदशा कौन सी है ?

उत्तर : एकमात्र वीतरागभाव ही निरपराधदशा है, इसलिए यह वीतराग भाव ही मोक्ष का कारण है। सम्पूर्ण परपदार्थों से पूर्णतया भिन्न, अपने में अभिन्न, अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभावी स्व भगवान् आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर,

पहिचानकर; उसमें ही स्थिरता, लीनता, रमणता रूप सम्यक् रत्नत्रयमय वीतराग दशा ही अपराधों से रहित, निर्दोष, शुद्ध निरपराध दशा है; जिससे पंचमगति/सिद्धगति की प्राप्ति होती है। वीतरागभाव से किसी भी कर्म का बंध नहीं होता है; अपितु सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होकर निर्बंध दशा की प्राप्ति होती है। वीतराग भाव पर से पूर्णतया निरपेक्ष, अप्रभावित, पर को प्रभावित करने रूप विकारी परिणामवाला नहीं होने से, स्वयं में पूर्ण स्वतंत्र-स्वाधीन होने के कारण पूर्ण निरपराधदशा है।

प्रश्न ११ : यह सब जानने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : चारों गतिओं दुःखमय हैं, हमारे शुभाशुभ भावरूप अपराधों के फल हैं। यदि हमें सुखी होना है, अपराधों का फल नहीं भोगना है, तो अपराधों को नष्ट करने के लिए पर से पूर्णतया निरपेक्ष अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान् आत्मा का आश्रय लेना चाहिए, एकमात्र वीतरागदशा प्रगट करना चाहिए।

यह समझ में आ जाने पर सम्पूर्ण शुभाशुभ भावों से रहित, मोह-राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण विकारों से रहित, ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान् आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही सतत लीन रहने का सतत सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है। पूर्ण लीनता के बल पर सम्पूर्ण दुःखों का, चारों गतिओं का अभाव होकर पूर्ण सुखमय, निरपराधमय, सिद्धदशा प्रगट हो जाती है। उसे प्रगट कर लेना ही इस समस्त जानकारी का लाभ है। ०००

देख तेरी पर्याय की हालत...

देख तेरी पर्याय की हालत क्या हो गई भगवान् ! तू तो गुण अनंत की खान !!
चिदानन्द चैतन्यराज क्यों अपने से अनजान ! तुझमें वैभव भरा महान !!

बड़ा पुण्य अवसर यह आया, श्री जिनवर का दर्शन पाया।
जिनने निज में निज को ध्याया, शाश्वत सुखमय वैभव पाया।।
इसीलिए श्री जिन कहते हैं, कर लो भेद-विज्ञान ॥१॥ तुझमें....
तन-चेतन को भिन्न पिछानो, रत्नत्रय की महिमा जानो।
निज को निज पर को पर जानो, राग भाव से मुक्ति न मानो।।
सप्त तत्त्व की यही प्रतीति, देगी मुक्ति महान ॥२॥ तुझमें....
अपने में अपनापन लाओ, निर्ग्रथों का पथ अपनाओ।
निज स्वभाव में ही जम जाओ, निर्मल सम्यक् चरित्र पाओ।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रमय, मुक्तिमार्ग पहचान ॥३॥ तुझमें....

प्रश्न १ : द्रव्य किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं अर्थात् जीव अनन्त, जीव से अनन्तगुणे पुद्गल, पुद्गल से अनन्तगुणे कालद्रव्य के समय, उससे भी अनन्तगुणे आकाशद्रव्य के प्रदेश और उससे भी अनन्तगुणे गुणों अर्थात् शक्तिओं के समूह को द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अनन्त वैभव सम्पन्न है। अनन्त वैभव सम्पन्न होने के कारण जिसे अपना कार्य करने के लिए दूसरे के सहयोग की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं होती है, ऐसी स्वतंत्र-स्वाधीन, पर से पूर्ण निरपेक्ष परिपूर्ण सत्ता को द्रव्य कहते हैं।

जाति अपेक्षा से द्रव्य के छह भेद हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। संख्या अपेक्षा से— जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानंत, धर्म-अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक और काल द्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं— इस प्रकार कुल अनन्तानन्त द्रव्य हैं।

प्रश्न २ : जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जानता-देखता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, उसे जीव कहते हैं अथवा ज्ञानानन्द-स्वभावी, अरस, अरूपी, अस्पर्शी, अनादि-अनन्त भगवान् आत्मा को जीव कहते हैं। यह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द आदि से रहित होने के कारण अमूर्तिक होने से इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता है; तथापि अपने ज्ञान से स्वयं ज्ञात होता है, अनुभव में आता है। स्थायी रह-कर परिणामन करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव होने से यह भी अपना परिणामन/कार्य स्वयं अपनी योग्यता से करता है; अपना कार्य करने के लिए इसे पर की रंचमात्र अपेक्षा नहीं होती है। यह स्वतःसिद्ध, परिपूर्ण विश्व में एकमात्र चेतन, ज्ञायक द्रव्य है।

प्रश्न ३ : पुद्गल द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि अनन्त गुण होते हैं; उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। पाँच इन्द्रियों से जानने में आनेवाली सभी वस्तुएँ पुद्गल ही हैं अर्थात् जिसे हम हाथ आदि से छूकर जानते हैं, जीभ से चखकर जानते

हैं, नाक से सूँघकर जानते हैं, आँख से देखकर जानते हैं और कान से सुनकर जानते हैं, वह सब पुद्गल है। स्पर्श आदि गुणों के कारण मात्र यह ही रूपी या मूर्तिक है। मात्र इस पुद्गल में ही स्पर्श गुण होने के कारण स्निग्ध-रूक्ष रूप परिणामन से परस्पर में मिलकर, खण्डित होकर यह स्कन्धरूप हो जाता है। इसके परमाणु और स्कन्ध—ये दो प्रकार के मुख्य आकार हैं। शरीर, घर, धन, धान्य आदि तथा यहाँ-वहाँ सर्वत्र दिखाई देनेवाले नीले आदि रंगवाले स्कन्ध, अंधकार, प्रकाश, छाया आदि पुद्गल ही हैं। पुद्=पूरण/मिलना, गल=गलना/बिछुड़ना इसका स्वभाव होने से इसे पुद्गल कहते हैं।

प्रश्न ४ : धर्मद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्पर्श आदि तथा ज्ञान आदि गुणों से रहित जो द्रव्य गमन करते/चलते हुए जीव और पुद्गलों को गमन करने/चलने में निमित्त होता है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। गतिहेतुत्व/चलने में निमित्त होना इत्यादि अनन्त गुणमय यह, जीवादि द्रव्यों के समान एक स्वतंत्र, परिपूर्ण द्रव्य है। जिस प्रकार चलती हुई मछली को चलने में जल निमित्त होता है; उसी प्रकार चलते हुए जीव और पुद्गलों को चलने में यह धर्मद्रव्य निमित्त होता है। यह द्रव्य संख्या में एक होने पर भी प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होने से सम्पूर्ण लोकाकाश में, तिल में तेल के समान सर्वत्र व्याप्त है/फैला हुआ है। यह द्रव्य जीव-पुद्गलों को जबरन नहीं चलाता है; यदि वे स्वयं चलते हों तो यह द्रव्य मात्र उसमें निमित्त होता है। अरूपी होने से यह हमें इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है।

प्रश्न ५ : धर्मद्रव्य और धर्म में क्या अन्तर है ?

उत्तर : धर्मद्रव्य और धर्म में निम्नलिखित अन्तर है—

धर्मद्रव्य	धर्म
१. धर्मद्रव्य जीव आदि द्रव्यों के समान अनंत गुणों के समूह रूप एक अखंड, स्वतःसिद्ध, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय तथा गुण-पर्यायों से सहित द्रव्य है।	धर्म मात्र जीव द्रव्य के निर्विकारी शुद्ध परिणामन को कहते हैं। इसके साथ रहने के कारण पूजा-पाठ, दया-दान आदि शुभभावों को भी उपचार से धर्म कह दिया जाता है।
२. धर्मद्रव्य स्वयं सुखमय, दुःखमय मोक्षमय, मोक्ष का कारण अथवा	धर्म स्वयं सुखमय है। व्यवहार धर्म को भी लौकिक दृष्टि से सुखमय कहा

बंधमय, बंध का कारण नहीं है।

जाता है; परन्तु वास्तव में वह दुःख-मय, आकुलतामय है। निर्विकारी वीतरागता रूप वास्तविक धर्म मोक्ष-मय तथा मोक्ष का कारण है और शुभ भावरूप व्यवहार धर्म बंधमय तथा बंध का कारण है।

३. धर्मद्रव्य अनादि-अनंत, स्थायी है।

धर्म पर्याय होने से सादि-सांत है। परम्परा की अपेक्षा व्यवहार धर्म सादि-सांत तथा वास्तविक धर्म सादि-अनंत और अनादि-अनंत है।

४. धर्मद्रव्य स्वयं गतिहेतुत्व आदि अनंत गुणों का समूह है।

धर्म मात्र जीव के ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र आदि गुणों का शुद्ध परिणमन है।

५. धर्मद्रव्य एक, लोकाकाश व्यापी द्रव्य है।

धर्म प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् पर्याय होने से अनन्त जीवों की अपेक्षा अनंत होने पर भी अपने-अपने द्रव्य तक ही सीमित है।

इत्यादि प्रकार से धर्मद्रव्य और धर्म में बहुत अंतर है।

प्रश्न ६ : अधर्मद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्पर्श आदि तथा ज्ञान आदि गुणों से रहित जो द्रव्य गमन कर स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को ठहरने में निमित्त होता है, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। स्थिति-हेतुत्व/चलकर ठहरने में निमित्त होना इत्यादि अनंत गुणमय यह द्रव्य, जीवादि द्रव्यों के समान एक स्वतंत्र, परिपूर्ण द्रव्य है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया चलते हुए पथिक को ठहरने में निमित्त होती है; उसी प्रकार यह द्रव्य चलकर ठहरते हुए जीव-पुद्गलों को ठहरने में निमित्त होता है। यह द्रव्य संख्या में एक होने पर भी प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होने से सम्पूर्ण लोकाकाश में, तिल में तेल के समान सर्वत्र व्याप्त है/ फैला हुआ है। यह द्रव्य जीव-पुद्गलों को जबरन नहीं ठहराता है; यदि वे स्वयं ठहर रहे हों तो यह द्रव्य उसमें निमित्त हो जाता है। अरूपी होने से यह हमें इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है।

प्रश्न ७ : अधर्मद्रव्य और अधर्म में क्या अन्तर है ?

उत्तर : अधर्मद्रव्य और अधर्म में निम्नलिखित अंतर है—

अधर्मद्रव्य	अधर्म
१. अधर्मद्रव्य जीवादि द्रव्यों के समान अनन्त गुणों के समूह रूप एक, अखंड, स्वतःसिद्ध, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय तथा गुण-पर्यायमय द्रव्य है।	अधर्म मात्र मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र, सप्त व्यसन, हिंसादि पाँच पाप इत्यादि जीव के विकारी भावों को कहते हैं।
२. अधर्मद्रव्य स्वयं सुखमय, दुःख-मय, मोक्षमय, मोक्ष का कारण अथवा बंधमय, बंध का कारण नहीं है।	अधर्म स्वयं दुःखमय, दुःख का कारण, बंधमय, बंध का कारण है।
३. अधर्मद्रव्य अनादि-अनंत, स्थायी है।	अधर्म स्वयं पर्याय होने से सादि-सान्त है। परम्परा की अपेक्षा अनादि-सांत और अनादि-अनंत भी है।
४. अधर्मद्रव्य स्वयं स्थितिहेतुत्व आदि अनंत गुणों का समूह है।	अधर्म मात्र जीव के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों का अशुद्ध परिणमन है।
५. अधर्मद्रव्य एक, लोकाकाश व्यापी द्रव्य है।	अधर्म प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् पर्याय होने से अनन्त जीवों की अपेक्षा अनन्त होने पर भी अपने-अपने द्रव्य तक ही सीमित है।

इत्यादि प्रकार से अधर्मद्रव्य और अधर्म में बहुत अन्तर है।

प्रश्न ८ : आकाशद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्पर्श आदि तथा ज्ञान आदि गुणों से रहित जो द्रव्य जीवादि सभी द्रव्यों को स्थान देने में निमित्त होता है, उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। अवगाहन-हेतुत्व/जगह देने में निमित्त होना इत्यादि अनन्त गुणमय यह भी, जीवादि द्रव्यों के समान, एक स्वतंत्र, परिपूर्ण द्रव्य है। यह द्रव्य संख्या में एक होने पर भी प्रदेशों की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी तथा सर्वव्यापक है। जीवादि द्रव्यों के रहने और न रहने की अपेक्षा इसके लोकाकाश और अलोकाकाश—ये दो भेद हो जाते हैं। आकाश के जितने भाग में जीवादि छहों द्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और उससे भिन्न सर्वत्र व्यापक मात्र आकाश अलोकाकाश कहलाता है।

अरूपी होने से यह वर्णादि रहित है, हमें इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है। लोक में पृथ्वी से ऊपर जो नीला-नीला दिखाई देनेवाला आकाश प्रसिद्ध है, वह वास्तव में आकाशद्रव्य नहीं; अपितु पुद्गल स्कन्ध है। आकाश तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि पुद्गल के गुणों से रहित है।

प्रश्न ९ : कालद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्पर्श आदि तथा ज्ञान आदि गुणों से रहित जो द्रव्य जीवादि सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होता है, उसे कालद्रव्य कहते हैं। परिणमनहेतुत्व आदि अनंत गुणमय यह द्रव्य भी जीवादि द्रव्यों के समान, एक स्वतंत्र, परिपूर्ण, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय, गुण-पर्याय युक्त, अनादि-अनंत द्रव्य है। यह द्रव्य एक प्रदेशी होने पर भी संख्या की अपेक्षा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात संख्यावाला है अर्थात् कालद्रव्य असंख्यात है। अरूपी होने से यह भी इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता है।

इसकी पर्याय को समय कहते हैं। समय का ज्ञान, मंदगति से गमन करते हुए एक पुद्गल परमाणु द्वारा आकाश के एक प्रदेश से, उससे ही लगे दूसरे प्रदेश पर गमन करने से होता है। मिनिट, घड़ी, घंटा आदि स्थूल समय का ज्ञान घड़ी आदि पुद्गल स्कन्धों के परिणमन से होने के कारण उन्हें भी उपचार से समय कह दिया जाता है; पर वास्तव में काल-द्रव्य और उनकी पर्यायें समय, इनसे पूर्णतया भिन्न हैं।

प्रश्न १० : जिसप्रकार आकाश और कालद्रव्य क्रमशः सभी द्रव्यों के रहने और परिणमन करने में निमित्त होते हैं; उसीप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य सभी द्रव्यों की गति और स्थिति में निमित्त क्यों नहीं होते हैं?

उत्तर : मात्र जीव और पुद्गल ही अपनी-अपनी क्रियावती शक्ति द्वारा गति और गतिपूर्वक स्थिति करते हैं; अतः वे धर्म-अधर्म द्रव्य भी इनके लिए ही निमित्त हैं। अन्य द्रव्यों में ये दोनों कार्य नहीं होते हैं; अतः इनमें उनकी निमित्तता भी नहीं होती है।

प्रश्न ११ : छहों द्रव्यों का दो-दो के समूह में विभाजन कीजिए ?

उत्तर : छहों द्रव्यों का दो-दो के समूह में विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

१. जीव-अजीव—जीव में मात्र अनन्त जीव आते हैं तथा अजीव में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये पाँच द्रव्य आते हैं। जीव को चेतन

और अजीव को जड़/अचेतन भी कहते हैं; अतः इसे चेतन-जड़/अचेतन रूप में विभाजन भी कह सकते हैं।

२. रूपी/मूर्तिक और अरूपी/अमूर्तिक—रूपी/मूर्तिक में मात्र अनन्ता-नन्त पुद्गलद्रव्य आते हैं तथा अरूपी/अमूर्तिक में शेष जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये पाँच द्रव्य आते हैं।

३. संख्या अपेक्षा एक और अनेक—धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक होने के कारण एक में आते हैं तथा शेष जीव, पुद्गल और काल—ये तीन द्रव्य अनेक होने से अनेक में आते हैं।

४. बहुप्रदेशी/अस्तिकाय और एक प्रदेशी/नास्तिकाय—बहुप्रदेशी/अस्तिकाय में जीव, धर्म, अधर्म, आकाश—ये चार द्रव्य आते हैं; पुद्गल भी स्कन्ध की अपेक्षा उपचार से बहुप्रदेशी/अस्तिकाय कहलाने से ये पाँच हो जाते हैं; कालद्रव्य उपचार से भी बहुप्रदेशी न होने से वह सर्वथा एक प्रदेशी/नास्तिकाय है।

५. सक्रिय और निष्क्रिय—जीव और पुद्गल अपनी-अपनी क्रियावती शक्ति द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करने के कारण सक्रिय/क्रियावान कहलाते हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चार गमन-शील नहीं होने से निष्क्रिय/अक्रियावान कहलाते हैं; तथापि सभी द्रव्यों में निरंतर परिणमन होने के कारण भाववान सभी हैं।

६. वैभाविक शक्ति से सहित और रहित—जीव और पुद्गलों में विशेष परिणमन होने से ये दोनों वैभाविक शक्तिवाले हैं। शेष धर्मादि चार द्रव्यों में सतत समान परिणमन ही होने से वे वैभाविक शक्तिवाले नहीं हैं, उससे रहित हैं।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन्हें दो-दो के समूहरूप में विभक्त कर सकते हैं।

प्रश्न १२ : विश्व किसे कहते हैं ? और उसे किसने बनाया है ?

उत्तर : पूर्व-वर्णित जाति अपेक्षा से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन छह द्रव्यों के तथा संख्या अपेक्षा से जीव अनंत, पुद्गल अनन्ता-नंत, धर्म-अधर्म-आकाश द्रव्य एक-एक और लोक प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य—इन अनंतानंत द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य पर से पूर्ण निरपेक्ष अनादि-अनंत, स्वतःसिद्ध, अकृत्रिम, स्वनिर्मित है। इसे बनानेवाला अन्य कोई भी नहीं है। इसीप्रकार इसे रखनेवाला या नष्ट करनेवाला भी कोई नहीं है, यह सदैव स्वयंरक्षित है।

लोक में जो ब्रम्हा, विष्णु, महेश की परिकल्पना प्रचलित है, वह अन्य कोई नहीं, द्रव्य का स्वरूप ही है। द्रव्य का पर्यायों को उत्पन्न करनेवाला उत्पाद स्वरूप ब्रम्हा है, इसके कारण द्रव्य में निरंतर नई-नई पर्यायें होती रहती हैं। द्रव्य का पर्यायों को नष्ट करनेवाला व्ययस्वरूप महेश है; इसके कारण द्रव्य की पुरानी पर्यायें निरंतर नष्ट होती रहती हैं। द्रव्य का निरंतर विद्यमान ध्रौव्य-स्वरूप विष्णु है; इसके कारण द्रव्य स्व-स्वरूप में अनादि-अनंत, स्थायी, सुरक्षित रहता है।

इस प्रकार द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कोई भी उसे बनानेवाला, नष्ट करनेवाला या उसकी रक्षा करनेवाला नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अनंत वैभवसम्पन्न, अपने आपमें पूर्ण कार्यक्षम होने से परमेश्वर है। ऐसे द्रव्यों का समूह ही विश्व होने से उसे भी बनानेवाला, नष्ट करनेवाला या उसकी रक्षा करनेवाला कोई अन्य परमेश्वर नहीं है; वह अनादि-अनंत, स्वनिर्मित, अकृत्रिम स्वयंरक्षित है।

प्रश्न १३ : यदि भगवान विश्व को नहीं बनाते हैं, तो वे क्या करते हैं?

उत्तर : प्रत्येक वस्तु स्वतःसिद्ध, स्वनिर्मित, स्वयं अनंतप्रभुता सम्पन्न प्रभु परमेश्वररूप होने से उसे बनानेवाला अन्य कोई भगवान नहीं है; अतः वस्तुओं के समूहरूप विश्व को बनानेवाले भी कोई भगवान नहीं हैं। वीतराग, सर्वज्ञ भगवान तो पूर्ण कृतकृत्य हो जाने के कारण वे कभी भी किसी का भला-बुरा आदि कुछ भी नहीं करते हैं। पूर्णतया निरीहभाव से, पूर्ण निरपेक्ष रहकर सहजभाव से मात्र सभी कुछ जानते और देखते हैं। जो तीनकाल, तीनलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को प्रतिसमय एक साथ प्रत्यक्षरूप में जानते और देखते हैं, सब कुछ जान-देखकर भी जो उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहते हुए वीतरागता के साथ अपने ज्ञानानंद स्वभाव में लीन रहते हैं, उन्हें भगवान कहते हैं।

करना-धरना स्वयंदुःखमय, आकुलतामय होनेसे पूर्णसुखमय जीवन में यह सम्भव ही नहीं है तथा वस्तु-व्यवस्था में इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

प्रश्न १४ : यदि भगवान विश्व को मात्र जानते-देखते हैं, कुछ करते-धरते नहीं हैं तो फिर इसमें दिखाई देनेवाला विविध परिवर्तन कौन करता है ?

उत्तर : वास्तव में विश्व में रहनेवाला, अनंतप्रभुतासम्पन्न प्रत्येक द्रव्य ही अपने में होनेवाले परिवर्तनों का स्वयं ही कर्ता है। कोई अन्य किसी द्रव्य का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी सीमा में रहकर सदा

अपना-अपना ही कार्य करे— ऐसी अनंत शक्ति-सम्पन्न स्वतंत्रता प्रत्येक द्रव्य के स्वभाव में ही समाहित है।

इस स्वतंत्रता को जो जान लेता है, पहिचान लेता है, वही स्वोन्मुखी पुरुषार्थकर, अपने स्वरूप में पूर्ण लीन हो परिपूर्णसुखी भगवान बन जाता है।

प्रश्न १५ : इन्द्रियों से दिखाई देनेवाला द्रव्य कौन सा है ?

उत्तर : इन्द्रियाँ मात्र स्थूलरूप से अपने-अपने विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, वर्ण/रंग/आकार, शब्द को देखने-जानने में निमित्त होती हैं; अतः इनसे युक्त अनेक-अनेक पुद्गलों के समूहरूप इन्द्रियगम्य स्कंधों को ही जानने-देखने में ये निमित्त होती हैं अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से मात्र पुद्गलस्कंध ही ज्ञात हो सकता है, अन्य कोई भी द्रव्य इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञात नहीं हो सकता है।

प्रश्न १६ : इन्द्रियाँ आत्मा के ही होती हैं, तब फिर आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात क्यों नहीं होता है ?

उत्तर : वास्तव में इन्द्रियाँ आत्मा की नहीं हैं; अतः इन्द्रियाँ स्वयं ज्ञानरूप भी नहीं हैं। छद्मस्थदशा में आत्मा जिस शरीर में रहता है, उस शरीर के अंगरूप इन्द्रियों के माध्यम से, उनके विषयभूत स्पर्शादि को जानने का कार्य स्वयं करता है। इन्द्रियाँ स्वयं जड़रूप, अचेतन, स्पर्श, रस, गंध, वर्णमयी पुद्गल से बनी हैं; अतः इन्हें ही जानने में निमित्त होती हैं। आत्मा में स्पर्शादि न होने के कारण इसे जानने में इन्द्रियाँ निमित्त भी नहीं होती हैं।

जब हम अपने ज्ञान को इन्द्रिय आदि सम्बन्धी परोन्मुखता से हटाकर स्वोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा पूर्णतया स्वोन्मुख/अन्तरोन्मुख करते हैं, तो आत्मा ज्ञात हो जाता है; इस ज्ञान को ही इन्द्रियों से हटने की अपेक्षा अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं।

इस प्रकार स्पर्शादि से रहित होने के कारण आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है।

प्रश्न १७ : धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर : धर्मद्रव्य का विशेष गुण/लक्षण गतिहेतुत्व है, अधर्मद्रव्य का विशेष गुण/लक्षण स्थितिहेतुत्व है। धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों को चलने में निमित्त होता है। अधर्मद्रव्य इन दोनों को ठहरने में निमित्त होता है— यही इन दोनों द्रव्यों में अन्तर है। शेष सब कुछ दोनों में समान है।

प्रश्न १८ : विश्व के पर्यायवाची शब्द लिखिए।

उत्तर: जग, जगत, दुनिया, लोक, ब्रम्हाण्ड, वर्ल्ड इत्यादि विश्व के पर्याय-वाची नाम हैं।

प्रश्न १९: विश्व के पर्यायवाची शब्दों में संसार को क्यों नहीं गिनाया? कारण सहित लिखिए।

उत्तर: संसार विश्व का पर्यायवाची न होने से उसे उनमें नहीं गिनाया है। पर्यायवाची न होने का कारण यह है कि विश्व तो द्रव्यों के समूह को कहते हैं और संसार जीव की विकारी पर्याय को कहते हैं। विश्व अनादि-अनन्त, अकृत्रिम है; संसार-पर्याय होने से सादि-सांत है, परम्परा की अपेक्षा अनादि-सांत तथा अनादि-अनन्त भी कहा जाता है। विश्व न दुःखमय है और न सुखमय; परन्तु संसार दुःखमय है। विश्व का कभी नाश नहीं हो सकता है; परन्तु संसार का अन्तरोन्मुखी अपूर्व पुरुषार्थ के बल पर नाश हो जाता है। सिद्ध भगवान भी विश्व में ही रहते हैं; परन्तु संसार उनमें नहीं है। बारह भावनाओं में संसार भावना और लोक भावना पृथक्-पृथक् हैं।

इत्यादि अनेकों अंतर विश्व और संसार में होने के कारण, संसार विश्व का पर्यायवाची न होने से उसे विश्व के पर्यायवाची शब्दों में नहीं गिनाया है।

प्रश्न २०: विश्व का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर: विश्व का स्वरूप समझने से अनेकों लाभ हैं। उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. परस्पर विरुद्ध स्वभावी छह जातिवाले द्रव्यों के समूह का नाम विश्व है। प्राणिओं का एक मनोविज्ञान है कि किसी वस्तु का स्वभाव ज्ञात हो जाने पर, तदनुसार ही उसके साथ प्रवर्तन करता है। इसके अनुसार ही हम भी विश्व का स्वरूप समझकर इसमें रहनेवाले द्रव्यों के साथ टकराहट न करते हुए, उनकी सत्ता को चैलेंज न देते हुए सहिष्णुता, सह-अस्तित्व आदि भावनाओं के बल पर सुख-शांति से रह लेते हैं।

२. विश्व अनादि-अनंत, स्वतःसिद्ध है; उसका कोई कर्ता, धर्ता, हर्ता नहीं है—यह समझ में आ जाने पर उसकी रक्षा-हेतु की जानेवाली देवी-देवताओं की भक्ति, पूजा आदि रूप गृहीत मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।

३. हमें इन अनंत पदार्थों के साथ रहना है; यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी-अपनी सीमा में रहकर, अपना-अपना कार्य करें, अपने में संतुष्ट रहें; अन्य की सीमा में, उसके कार्य में या वैभव में हस्तक्षेप नहीं करें—यह समझ

में आ जाने पर परकर्तृत्व का भाव नष्ट होकर जीवन न्याय, नीति, सदाचारमय सहज निराकुल हो जाता है।

४. विश्व का यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाने से उस संबंधी विपरीत धारणाएँ नष्ट हो जाती हैं; जो सम्यक्त्वनत्रय प्रगट करने की पात्रता के लिए अत्यंत आवश्यक है।

इत्यादि अनेकों लाभ विश्व का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २१: द्रव्य के पर्यायवाची शब्द बताइए।

उत्तर: अर्थ, पदार्थ, वस्तु, सत्, चीज, प्रदेशवान, अन्वय इत्यादि द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं।

प्रश्न २२: द्रव्य का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर: द्रव्य का स्वरूप समझने से अनेकों लाभ हैं; उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, हम भी एक द्रव्य हैं अर्थात् गुणों के समूह हैं; अनंतानंत शक्तिओं, वैभवों के समूह हैं। यह समझ में आ जाने पर दीनता, हीनता, पामरता आदि भाव नष्ट होकर अपना वैभव प्रगट करने का प्रयास प्रारंभ होता है; जिसकी प्रगटता में जीवन निराकुल आनंदमय हो जाता है।

२. विश्व का प्रत्येक द्रव्य हमारे जैसा ही गुणों का समूह है। यह समझ में आ जाने पर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, तुच्छ, तिरस्कार, घमण्ड आदि विषमता-मय भाव नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

३. द्रव्य होने के कारण हम गुणों के समूह हैं, अवगुणों के नहीं। अवगुण तो स्वयं को गुणों का समूहरूप द्रव्य न जानने, न मानने से उत्पन्न हुए हैं—यह समझ में आ जाने पर अपने गुणों के समूहरूप द्रव्य को अपने रूप से जानकर, पहि-चानकर, उसमें लीन होने से पर्याय में भी अवगुण नष्ट होकर गुण प्रगट हो जाते हैं।

४. हम अनादि-अनंत गुणों के समूह हैं, उन्हें प्रगट करने में वास्तव में कोई गति या काल बाधक नहीं है; अपितु हमारा हीन पुरुषार्थ ही बाधक है, गुण भी सदा एक समान विद्यमान हैं—यह समझ में आ जाने पर जब हम गति, काल आदि सम्पूर्ण परपदार्थों से दृष्टि हटाकर अनंत पुरुषार्थपूर्वक स्वरूप में स्थिर होते हैं, तो वे सभी गुण, पर्याय में भी प्रगट हो जाते हैं।

५. इसी आधार पर परमुखापेक्षी, पराधीन, परकर्तृत्व आदि विकारी वृत्ति आँ नष्ट होकर, स्वतंत्र, स्वाधीन, निराकुलतामय सहज जीवन हो जाता है। इत्यादि अनेकों लाभ द्रव्य का स्वरूप समझने से प्रगट होते हैं। ०००

प्रश्न १ : भगवान महावीर का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर : भगवान महावीर इस युग के, इस क्षेत्र के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर हैं। भगवान तो वे पूर्ण वीतरागी बनने के बाद तेरहवें गुणस्थान में बने। आज सन् २००० को आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन नाथवंश के राजा सिद्धार्थ और उनकी रानी प्रियकारिणी त्रिशला के माध्यम से कुण्डग्राम में एक अति सुन्दर, प्रतिभाशाली, अतुल्यबल सम्पन्न बालक के रूप में उनका जन्म हुआ था। अन्य तीर्थंकरों के समान उनका भी इन्द्रादि द्वारा जन्मोत्सव अत्यन्त ठाट-बाट से उत्साहपूर्ण वातावरण में सम्पन्न किया गया तथा वर्धमान नाम रखा गया।

वे जन्म से ही आत्मज्ञानी, मति-श्रुत-अवधि – तीन ज्ञान के धारी, विवेकी, निर्भयता आदि गुणसम्पन्न थे। तीस वर्ष की अवस्था में तीव्र वैराग्य होने के कारण वे नग्न, दिगम्बर आत्मसाधनारत लोकोत्तर साधु हो गए। बारह वर्ष तक मौन पूर्वक अखण्ड आत्मसाधना के बाद एक दिन पूर्ण स्वरूप-लीनता की दशा में मुनि वर्धमान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इस प्रकार ब्यालीस वर्ष की आयु में वे वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान बन गए।

इसके बाद लगातार तीस वर्ष तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में समवसरण सहित विहार के समय दिव्यध्वनि द्वारा उनका तत्त्वोपदेश होता रहा। अंत में बहत्तर वर्ष की अवस्था में बिहार प्रान्त के नवादा रेलवे स्टेशन के पास स्थित पावापुरी स्थान से कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन आत्मध्यान में मग्न भगवान वर्धमान का निर्वाण हो गया अर्थात् वे इस दिन अरहंत भगवान से सिद्ध भगवान बन गए।

प्रश्न २ : भगवान वर्धमान के कितने और कौन-कौन से नाम प्रसिद्ध हैं? कारण सहित बताइए।

उत्तर : भगवान वर्धमान के पाँच नाम प्रसिद्ध हैं – वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर और वर्धमान। इनमें से 'वर्धमान' तो उनका जन्म के समय रखा गया नाम है।

उनका 'वीर' नाम पड़ने का कारण यह है कि बचपन में एकबार अपने मित्रों के साथ उद्यान में खेलते समय, उनकी परीक्षा लेने के लिए उनके सामने एक भयंकर मदोन्मत्त सर्प आ गया। बालक वर्धमान ने अपने बुद्धिबल और साहस से उसे निर्मद कर दिया, पराजित कर दिया – यह देखकर लोग उन्हें वीर कहने लगे।

इसी प्रकार एकबार मदोन्मत्त हाथी बंधन तोड़कर हस्ती-शाला से निकल राजमार्ग (सड़क) पर ऊधम मचाने लगा, दुकानें तहस-नहस करने लगा; जिससे लोग बहुत ही आकुल-व्याकुल, दुखी हो गए। बालक वर्धमान ने वहाँ आकर अपनी चतुराई से उस मदोन्मत्त हाथी को वश में कर जनता का संरक्षण किया, उसे उस दुःख से मुक्त किया; अतः जनता उन्हें अतिवीर कहने लगी।

संजय और विजय नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों के मन में अति दीर्घकाल से कोई शंका चल रही थी। जंगल में विहार करते समय एक बार उनकी दृष्टि अपने मित्रों के साथ खेलते हुए बालक वर्धमान पर पड़ी। उन्हें देखते ही मुनिराजों की शंका का समाधान हो गया; जिससे उन्होंने बालक वर्धमान का नाम सन्मति (अच्छी बुद्धिवाला) रख दिया।

इसी प्रकार तीस वर्ष की पूर्ण यौवन अवस्था में सम्पूर्ण विषय-कषायों को अपने अधीन कर, आत्मपुरुषार्थ के बल से त्रैलोक्य-विजयी काम-वास-नाओं पर आपने विजय प्राप्त की थी। ब्यालीस वर्ष की अवस्था में सम्पूर्ण विषय-विकारों, राग, द्वेष, अज्ञान आदि भावों पर विजय प्राप्त कर आप पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान हो गए; अतः आप महावीर कहलाए।

इस प्रकार प्रसंगवश भगवान महावीर के पाँच नाम प्रसिद्ध हो गए।

प्रश्न ३ : क्या भगवान महावीर जन्म से ही भगवान थे? यदि नहीं तो वे भगवान कैसे बने?

उत्तर : भगवान महावीर जन्म से ही भगवान नहीं थे। कोई भी जीव कभी भी जन्म से भगवान नहीं होता है; जन्म के समय तो सभी बालक ही होते हैं; बाद में आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करके वे भगवान बनते हैं। महावीर भी अपनी उम्र के ब्यालीसवें वर्ष में आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करके भगवान बने।

इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि जन्म से कोई जीव भगवान न होने के कारण, भगवान कोई पृथक् से नहीं होते हैं। जो जीव अपने ज्ञानानन्द

स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचान कर, उसमें ही लीन होते हैं; सदा उसमें ही लीन रहने का पुरुषार्थ करते हैं, वे उसके बल पर भगवान बन जाते हैं अर्थात् जब कोई जीव ऐसा पुरुषार्थ करता है तो वह स्वयं भगवान बन जाता है। हम भी आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करके भगवान बन सकते हैं।

प्रश्न ४ : महावीर जयन्ती और दीपावली पर्व क्या हैं? इन्हें कैसे मनाना चाहिए।

उत्तर : चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन इस युग के, इस क्षेत्र के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का बालक के रूप में जन्म हुआ था। उस समय उनके जन्मोत्सव को माता-पिता, कुटुम्बी आदि लोगों के साथ इन्द्र-इन्द्रानी आदि देव-देविओं ने बड़े उत्साह से मनाया था; उसकी स्मृति में आज भी हम इस दिन को महावीर जन्म-जयंती के रूप में मनाते हैं।

कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन तीर्थंकर अरहंत भगवान महावीर सिद्ध भगवान बने थे। परिपूर्ण आत्मसाधना के फलस्वरूप सम्पूर्ण गुणों का पर्याय में परिपूर्ण विकास कर पूर्ण प्रकाशमय अव्याबाध सुखसम्पन्न मोक्ष प्राप्त किया था। इस पावन प्रसंग पर इन्द्रादि ने भी रत्न-दीपों से उनकी पूजन की थी। उसकी स्मृति में आज भी हम इस दिन दीपावली पर्व मनाते हैं।

महावीर जयन्ती का दिन उनके अन्तिम जन्म का दिन होने से, उनका हमारे बीच में आगमन होने से, अत्यंत प्रसन्नतापूर्वक मनाया जाना चाहिए तथा दीपावली का दिन उनका हमारे बीच से सदा-सदा के लिए गमन का दिन होने से अत्यंत गम्भीरतापूर्वक उनके जैसे बनने की भावना भाते हुए पूर्णतया अहिंसक पद्धति से मनाया जाना चाहिए। यद्यपि इस दिन भगवान महावीर ने अपनी साधना का पूर्ण फल सर्वोत्कृष्ट सिद्धपद प्राप्त किया था; अतः प्रसन्नता का दिन है; तथापि हमारा उनसे वियोग का दिन होने से खेद/वैराग्य का दिन भी है। इस प्रकार खुशी और खेद/वैराग्य दोनों ही एकसाथ होने के कारण इसे विशेष गम्भीरतापूर्वक मनाना ही उचित है।

प्रश्न ५ : जन्म तो स्वयं दुःखमय और दुःख के कारणभूत अठारह दोषों में से पहला दोष है, तब फिर उसे प्रसन्नतापूर्वक क्यों मनाना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि जन्म सबसे बड़ा दोष है; तथापि महावीर भगवान का यह जन्म साधारण नहीं था। यह उनकी सम्पूर्ण संसार पर्यायों में से अन्तिम जन्म था।

इस जन्म में उन्होंने सम्पूर्ण जन्म-मरण का नाश कर सर्वोत्कृष्ट सिद्धदशा प्राप्त की थी, अपना जन्म सार्थक किया था; अतः उनका जन्मदिन प्रसन्नतापूर्वक मनाना चाहिए।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो अभी भगवान बननेवाले नहीं हैं; तीव्र मोही, रागी, द्वेषी हैं; विषय-कषायों में लिप्त हैं; उनका जन्म अनेकानेक जन्म-मरण की परम्पराओं को बढ़ानेवाला होने से उनका जन्मदिन मनाना, अनन्त संसार को बढ़ानेवाले गृहीत-मिथ्यात्व-पाप को पुष्ट करना है। यह गृहीत मिथ्यात्वरूपी महापाप जबतक अपने जीवन से नष्ट नहीं होता है, तबतक हममें सम्यग्दर्शन प्रगट करने की पात्रता भी जागृत नहीं होती है। वास्तविकता तो यह है कि यदि इस काल में हमें अपना वर्तमान जन्मदिन याद भी आए, तो इस रूप में याद आना चाहिए कि अरेरे! इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर भी हमने इतना लम्बा समय यों ही मिथ्यात्व में ही व्यतीत कर दिया। अब तो जो जीवन शेष रह गया है, उसमें एकमात्र सम्यक्त्नत्रय प्रगट करने का पुरुषार्थ ही हमें शीघ्रता से करना चाहिए; क्योंकि यह जीवन अत्यंत क्षणभंगुर होने से इसका कुछ भी विश्वास नहीं है।

प्रश्न ६ : भगवान महावीर का उपदेश क्या-क्या है ?

उत्तर : भगवान बनने के बाद लगातार ३० वर्ष तक दिव्यध्वनि द्वारा भगवान महावीर का संदेश होता रहा। उनके उपदेश को आचार्यों ने चार अनुयोगों में विभक्त कर जिनवाणी के रूप में लिपिबद्ध किया है। उनका सम्पूर्ण उपदेश समझने के लिए तो सम्पूर्ण जिनवाणी का गहराई से स्वाध्याय, अध्ययन, मनन, चिन्तन करना ही आवश्यक है; तथापि उनमें से अत्यंत प्रमुख उपदेश का संक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

१. सभी जीव स्वयं अनन्त वैभव सम्पन्न ज्ञानानन्द स्वभावी हैं। कोई भी दीन-हीन या छोटा-बड़ा नहीं है; अतः किसी के प्रति भी किसी भी रूप में क्रोधादि कषायें या हिंसादि पाप नहीं करना चाहिए।

२. भगवान कोई पृथक् नहीं होते हैं, जो जीव आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करता है, वह स्वयं भगवान अर्थात् पूर्ण सुखी हो जाता है। सभी को इस दिशा में पुरुषार्थ करना चाहिए।

३. भगवान जगत के किसी भी पदार्थ के कर्ता-धर्ता नहीं हैं। वे तो मात्र

सभी को सहज रूप से जानते-देखते हैं। हम भी उनके ही समान जीव हैं; अतः हमें भी सुखी होने के लिए प्रत्येक परिस्थिति में सहज जानने-देखने रूप रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

४. हम अपने अपराध के कारण ही दुःखी हैं, कोई दूसरे कर्म आदि अपराध नहीं करते हैं। हम स्वयं अपने वैभव को भूलकर, परपदार्थों को अपनाने रूप अज्ञानतावश अपराधी हुए हैं। यदि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के माध्यम से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझकर हमने अपने अज्ञान का नाश किया, तो हम स्वयं अपने सम्पूर्ण अपराधों को नष्ट कर, पूर्ण निरपराधी, परिपूर्ण सुखी हो जाते हैं, भगवान बन जाते हैं; अतः हमें स्वयं अपने अज्ञान को नष्ट करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

इत्यादि स्वतंत्रता, स्वाधीनता की घोषणा करनेवाले तथा सुख का मार्ग बतानेवाले अनेकानेक उपदेश-वाक्य महावीर भगवान के हैं। ०००

महावीर वन्दना

हे वीरनाथ तुम दर्शन कर निज दर्शन करने आये हैं।
हम वीर नाथ की भक्ति कर वैराग्य बढ़ाने आये हैं ॥१॥
तुमको बिन जाने हे स्वामी, भव भव में व्यर्थ भ्रमाते थे।
सुख की आशा से विषयों में फँसकर, दुख ही दुख पाते थे ॥
अब तुम साक्षी में हे जिनवर, शिवमारग पाने आये हैं ॥१॥
जब से देखा जिनरूप अहो, विश्वास सहज ही जागा है।
आतम सुखमय सुख का कारण, दुर्मोह सहज ही भागा है ॥
प्रभु सहज प्राप्य की प्राप्ति का, पुरुषार्थ जगाने आये हैं ॥२॥
घबराया चित्त प्रपंचों से, अब भोग रोग सम लगते हैं।
निज में फँसकर मोही प्राणी, नित स्वयं स्वयं को ठगते हैं ॥
निर्वृत्तिमय निर्ग्रन्थ दशा, तुम सम प्रगटाने आये हैं ॥३॥
निरपेक्ष रहें सब जग भर से, निर्द्वन्द्व स्वयं में लीन रहें।
निज वैभव में सन्तुष्ट रहें, निज प्रभुता में लवलीन रहें ॥
प्रभु परमज्योतिमय परमानन्दमय, निजपद पाने आये हैं ॥४॥
अन्तर में परमातम देखा, अन्तर में मारग पाया है।
अन्तर दृष्टि जब प्रगट हुई, आनन्द न हृदय समाया है ॥
मन शान्त हुआ निष्काम भाव से, शीश झुका हर्षाये हैं ॥५॥

मिथ्यातम नाशवे को, ज्ञान के प्रकाशवे को।
आपा पर भासवे को, भानु सी बखानी है ॥
छहों द्रव्य जानवे को, बन्ध विधि भानवे को।
स्व पर पिछानवे को, परम प्रमानी है ॥
अनुभव बतायवे को, जीव के जतायवे को।
काहू न सतायवे को, भव्य उर आनी है ॥
जहाँ तहाँ तारवे को, पार के उतारवे को।
सुख विस्तारवे को, ये ही जिनवाणी है ॥
हे जिनवाणी भारती, तोहि जपों दिन रैन।
जो तेरी शरणा गहे, सो पावे सुख चैन ॥
जा वाणी के ज्ञान तैं, सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक नवों, सदा देत हों ढोक ॥

प्रश्न १ : जिनवाणी स्तुति का सामान्य अर्थ लिखिए।

उत्तर : जिनेन्द्र भगवान की वाणी जिनवाणी विपरीत मान्यतारूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए, ज्ञानरूपी प्रकाश करने के लिए और अपने व पराए की पहिचान करने के लिए सूर्य के समान मानी गई हैं। छहों द्रव्यों का ज्ञान करने के लिए, बंध होने की प्रक्रिया का यथार्थ अवभासन कराके उसे नष्ट करने के लिए, स्व और पर की पहिचान करने के लिए सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक मानी गई हैं। चाहे जिस स्थान से संसार-सागर तिरने के लिए, संसार-सागर से पार उतरने के लिए, सुख का विस्तार करने के लिए ये “जिनवाणी माता” ही शरणभूत हैं।

इन विशेषताओं से सहित हे जिनवाणी माता ! हम आपका दिन-रात जाप करते हैं। आपकी शरण में जो भी आता है, वह सुख-शांति प्राप्त कर लेता है। जिनवाणी के ज्ञान से हमें लोकालोक की जानकारी हो जाती है, उन्हें हम मस्तक पर धारण कर धोक देते हैं; सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं।

प्रश्न २ : जिनवाणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि जिनवाणी कहलाती है। इनके द्वारा जिनेन्द्र भगवान सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था तथा वस्तु-व्यवस्था का निरूपण करके हमें सुखी होने का मार्ग बताते हैं। जब जिनेन्द्र भगवान साक्षात् विद्यमान नहीं होते हैं, तब उनकी ही वाणी को आचार्य शब्दों आदि में लिपिबद्ध कर शास्त्रों की रचना करते हैं। इन शास्त्रों में भी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों का ही वर्णन होता है। ये सभी, वीतरागता के ही पोषक होते हैं, अनेकान्तात्मक वस्तु-व्यवस्था को स्याद्वाद शैली में निरूपित करते हैं।

इसप्रकार सुखी होने का मार्ग बतानेवाले होने से चारों अनुयोगमयी ये सभी शास्त्र जिनवाणी ही कहलाते हैं।

प्रश्न ३ : जिनवाणी की आराधना से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर : जिनवाणी स्तुति नामक पाठ के आधार पर जिनवाणी की आराधना से निम्नलिखित लाभ हैं—

१. मिथ्यात्व का नाश होता है।
 २. स्व और पर की स्पष्ट जानकारी पूर्वक स्व-पर का भेदविज्ञान होता है।
 ३. छहों द्रव्यों की सम्यक् जानकारी होती है।
 ४. बंध होने के कारणों का और बंधन की प्रक्रिया का स्पष्ट ज्ञान होता है।
 ५. आत्मानुभव करने की विधि ज्ञात होती है।
 ६. हिंसा आदि पापों से निर्वृत्ति होती है।
 ७. संसार के दुःखों से पार होने का उपाय मिल जाता है।
 ८. वास्तविक सुख-शांति की प्राप्ति होती है।
- इत्यादि अनेकों लाभ जिनवाणी की आराधना से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ४ : 'तोहि जपों दिनरैन' – इस पंक्ति का भाव क्या है ?

उत्तर : हे जिनवाणी माता ! हम आपका दिन-रात जाप करते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि हम आपके स्वाध्याय, अध्ययन, मनन, चिंतन आदि के माध्यम से वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करके अपना जीवन सुख शांतिमय बनाने-हेतु सतत आत्मलीनता का प्रयास करते रहें अर्थात् जपों से तात्पर्य, उनको जपना या उनके नाम की माला फेरना नहीं है; वरन् उनका निरन्तर अभ्यास करना है।

प्रश्न ५ : 'सो वाणी मस्तक नवों, सदा देत हों धोक' – इस पंक्ति का भाव क्या है ?

उत्तर : उन जिनवाणी माता को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ, धोक देता हूँ। यहाँ नमस्कार करने का अर्थ शारीरिक नमस्कार करना तो है ही, पर मात्र माथा झुकाना नहीं है; अपितु विशेषरूप से जिनवाणी के महत्त्व को समझकर, उनके प्रति बहुमान उत्पन्न होना है और उनके सतत अभ्यास से आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना है अर्थात् उनके अध्ययन आदि के माध्यम से सतत स्वरूपलीनता का पुरुषार्थ करना; अपने स्वभाव में नमना, झुकना, लीन होना – इस पंक्ति का भाव है।

○○○

धन्य-धन्य जिनवाणी माता !!!

धन्य धन्य जिनवाणी माता, शरण तुम्हारी आए।

परमागम का मन्थन करके, शिवपुर पथ पर आए ॥

माता दर्शन तेरा रे भविक को आनन्द देता है,
हमारी नैया खेता है ॥१॥

वस्तु कथंचित् नित्य-अनित्य, अनेकांतमय शोभे।
परद्रव्यों से भिन्न सर्वथा, स्वचतुष्टमय शोभे ॥
ऐसी वस्तु समझने से, चतुर्गति फेरा कटता है,
जगत का फेरा मिटता है ॥२॥

नय निश्चय-व्यवहार निरूपण, मोक्षमार्ग का करती।
वीतरागता ही मुक्तिपथ, शुभ व्यवहार उचरती ॥
माता तेरी सेवा से, मुक्ति का मार्ग खुलता है,
महा मिथ्यातम धुलता है ॥३॥

तेरे अंचल में चेतन की, दिव्य चेतना पाते।
तेरी अमृत लोरी क्या है, अनुभव की बरसातें ॥
माता तेरी वर्षा में, निजानन्द झरना झरता है,
अनुपमानन्द उछलता है ॥४॥

नव-तत्त्वों में छुपी हुई, जो ज्योति उसे बतलाती।
चिदानन्द चैतन्यराज का, दर्शन सदा कराती ॥
माता तेरे दर्शन से, निजातम दर्शन होता है,
सम्यग्दर्शन होता है ॥५॥

निज निधि निज में बताई, यह अनन्त उपकार है।
इसके लिए जिनवाणी माँ को, वन्दना शतबार है ॥

D
पहला १

देवदर्शन

अति पुण्य उदय मम आया, प्रभु तुमरा दर्शन पाया।
अब तक तुमको बिन जाने, दुख पाये निज गुण हाने॥
पाये अनंते दुःख, अब तक, जगत को निज जानकर।
सर्वज्ञ भाषित जगत हितकर, धर्म नहीं पहिचान कर॥
भव बंधकारक सुखप्रहारक विषय में सुख मानकर।
निज पर विवेचक ज्ञानमय, सुखनिधि-सुधा नहीं पान कर॥१॥
तव पद मम उर में आये, लखि कुमति विमोह पलाये।
निज ज्ञान कला उर जागी, रुचि पूर्ण स्वहित में लागी॥
रुचि लगी हित में आत्म के, सतसंग में अब मन लगा।
मन में हुई अब भावना, तव भक्ति में जाऊँ रंगा॥
प्रिय वचन की हो टेव, गुणिगण गान में ही चित्त पगै।
शुभ शास्त्र का नित हो मनन, मन दोष वादनतैं भगै॥२॥
कब समता उर में लाकर, द्वादश अनुप्रेक्षा भाकर।
ममतामय भूत भगाकर, मुनिव्रत धारूँ वन जाकर॥
धरकर दिगंबर रूप कब, अठ-बीस गुण पालन करूँ।
दो बीस परिषह सह सदा, शुभ धर्म दश धारन करूँ॥
तप तपूँ द्वादश विधि सुखद नित, बंध आस्रव परिहरूँ।
अरु रोकि नूतन कर्म संचित, कर्म रिपुकोँ निर्जरूँ॥३॥
कब धन्य सुअवसर पाऊँ, जब निज में ही रम जाऊँ।
कर्तादिक भेद मिटाऊँ, रागादिक दूर भगाऊँ॥
कर दूर रागादिक निरंतर, आत्म को निर्मल करूँ।
बल ज्ञान दर्शन सुख अतुल, लहि चरित क्षायिक आचरूँ॥
आनन्दकन्द जिनेन्द्र बन, उपदेश को नित उच्चरूँ।
आबै 'अमर' कब सुखद दिन, जब दुखद भवसागर तरूँ॥४॥

प्रश्न १ : इसके पहले छन्द के आधार पर अपने दुःखों के कारण गिनाइए।

उत्तर : देवदर्शन नामक पाठ के पहले छन्द में अपने अनंत दुःखों के निम्न-लिखित कारण गिनाए गए हैं—

१. वास्तविक वीतरागी, सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान को नहीं पहिचानना।
२. अपने अनन्त गुणों को अर्थात् अपने अनंत वैभव को भूल जाना, उनकी पहिचान नहीं होना तथा जगत को अपना मानना।
३. सर्वज्ञ द्वारा बताए गए हितकारी धर्म की पहिचान नहीं होना।
४. संसार का बंध करनेवाले/बढ़ानेवाले और सुख को नष्ट करनेवाले पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में सुख मानना।
५. अपने और पराए के भेदज्ञानमय, सुख के भण्डारस्वरूप आत्मज्ञान-मयी अमृत का पान नहीं करना।

उपर्युक्त ५ कारणों द्वारा हम अनादि से इस संसार में दुःख भोग रहे हैं।

प्रश्न २ : इसके दूसरे छन्द के अनुसार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से अर्थात् उन्हें पहिचानने से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर : प्रस्तुत छन्द के अनुसार जिनेन्द्र भगवान की पहिचान हो जाने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का अभाव होता है।
२. आत्मज्ञान प्रगट हो जाता है।
३. मात्र आत्महित करने में ही पूर्ण रुचि जागृत हो जाती है।
४. आत्महित के पोषक सत्संग में मन लगने लगता है।
५. भगवान के प्रति भक्ति और गुणीजनों के प्रति तीव्रता से विनय आदि भाव मन में उत्पन्न हो जाते हैं।
६. एकमात्र हितकारी, प्रियवचन बोलने की ही आदत बन जाती है तथा दूसरों के दोष कहने में मन नहीं लगता है।
७. गुणीजनों के गुणों का वर्णन करने में मन रम जाता है।
८. कल्याणकारी, वीतरागी शास्त्रों का सतत अध्ययन, मनन करने का भाव जागृत हो जाता है।

इत्यादि लाभ जिनेन्द्र भगवान की पहिचान होने पर प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ३ : इसके तीसरे छन्द के अनुसार भगवान का भक्त कैसा मुनि बनना चाहता है ? तथा वह मुनि बनकर क्या करना चाहता है ?

उत्तर : प्रस्तुत छन्द के अनुसार भगवान का भक्त जंगल में जाकर, ममतारूपी पिशाच को नष्ट कर, समतामय, अत्यंत वैराग्यवृत्ति सम्पन्न नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनि बनना चाहता है। मुनि बनकर अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष

पालन करते हुए, बाईस परिषदों को समताभाव से सहन करते हुए, कल्याण-कारी उत्तम क्षमादि दश धर्मों को धारण करना चाहता है। सुखदायी अंतरंग-बहिरंग बारह प्रकार के तपों को विधिवत तपना चाहता है। सभी प्रकार के आस्रव और बंध को नष्ट कर, संवर और निर्जरा प्राप्त करना चाहता है।

प्रश्न ४ : इस संबंधी चौथे छन्द के आधार पर 'अमर' कवि की भावना लिखिए।

उत्तर : प्रस्तुत 'देवदर्शन' पाठ के चौथे छन्द में 'अमर' कवि या ज्ञानी भक्त निरंतर अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में रमने की भावना भाते हैं। इसी प्रकार मैं इस कार्य का कर्ता हूँ, यह मेरा कार्य है, यह कार्य मैंने इस साधन से किया इत्यादि करने-धरने संबंधी सभी भावों को नष्ट करने की तथा शुभ-अशुभरूप रागादि भावों को दूर भगाने की, पूर्णतया नष्ट करने की भावना भाते हैं। रागादि भावों के नाशपूर्वक आत्मा को पूर्ण पवित्र, निर्मल बनाकर; अतुलनीय अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतबलरूप अनंत चतुष्टय से सम्पन्न कर; कभी भी नष्ट न होनेवाले क्षायिक चारित्र का आचरण करना चाहते हैं। इस प्रकार आनन्दमय जिनेन्द्र भगवान बनकर दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों को हित का मार्ग बताकर, इस दुःखदायी संसार-सागर से पार होने की भावना भाते हैं।

प्रश्न ५ : अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं? वे कितनी और कौन-कौन हैं?

उत्तर : अनु+प्र+ईक्षा=अनुप्रेक्षा। इसका अर्थ है— बारम्बार, प्रकृष्टरूप से, किसी विषय का चिंतन करना। इसे भावना भी कहते हैं। ये सामान्यतया बारह हैं— अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म। इन संबंधी बारम्बार चिंतन से संसार, शरीर, भोगों के प्रति अरुचि होकर तीव्रतम वैराग्यभाव जागृत होता है।

प्रश्न ६ : मूलगुण किसे कहते हैं? मुनिराज के २८ मूलगुण बताइए।

उत्तर : जो गुण अर्थात् दशाएँ, धर्म धारण करने के लिए जड़ या नींव के समान, मूल या आधारभूत होती हैं, उन गुणों, दशाओं, भावों को मूलगुण कहते हैं। मुनिराज के २८ मूलगुण निम्नलिखित हैं—

पाँच महाव्रत : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हचर्य, अपरिग्रह।

पाँच समिति : ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापन/उत्सर्ग।

पाँच इन्द्रियविजय : स्पर्शनेन्द्रिय विजय, रसनेन्द्रिय विजय, घ्राणेन्द्रिय विजय, चक्षुःन्द्रिय विजय, कर्णेन्द्रिय विजय।

छह आवश्यक : समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान/स्वा-ध्याय, कायोत्सर्ग।

शेष सात गुण : अस्नान, अदन्तधावन, भूमिशयन, दिन में एक बार भोजन, अपने करपात्र में खड़े-खड़े भोजन, केशलुंचन, नग्नत्व।

प्रश्न ७ : परिषह किसे कहते हैं? और वे कौन-कौन से हैं?

उत्तर : प्रकृतिप्रदत्त, नैसर्गिक, विविध परिस्थितिओं परिषह हैं। यद्यपि वे अनेकप्रकार के होते हैं, पर समझने की दृष्टि से आचार्यों ने उन्हें उपलक्षणरूप में निम्नलिखित २२ भेदों में विभक्त किया है— क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, शैया, आसन, याचना, आक्रोश, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।

इन सभी को मुनिराज अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में लीनता के बल पर सहन करते हैं अर्थात् उनके होने पर भी रंचमात्र भी खेदखिन्न नहीं होते हैं, सतत समताभावमय वीतरागभावरूप ही रहते हैं; अतः वे परिषहजयी कहलाते हैं।

प्रश्न ८ : धर्म किसे कहते हैं और उसके १० प्रकार कौन-कौन से हैं?

उत्तर : अपने ज्ञानानन्द स्वभावी शुद्धात्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें लीन होने से प्रगटहुई वीतराग परिणति, शुद्धदशा, आनन्द-मयदशा धर्म है। क्रोध आदि कषायों के, असंयम आदि विकारों के अभाव-पूर्वक उत्पन्न होने की अपेक्षा से इस धर्म को १० भेदों में विभक्त किया जाता है। वे इस प्रकार हैं—

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रम्हचर्य।

प्रश्न ९ : तप किसे कहते हैं? उसके भेद तथा नाम लिखिए।

उत्तर : अपने स्वभाव में विशेष तृप्त हो जाने से बाह्य पदार्थों की इच्छाओं का निरोध होना तप कहलाता है। इसके मूलतया बहिरंग और अंतरंग ये दो भेद हैं। इन दोनों के भी निम्नलिखित छह-छह भेद हैं—

बहिरंगतप : अनशन (उपवास), अवमौदर्य (ऊनोदर), वृत्ति-परि-संख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशैयासन, कायक्लेश।

अंतरंगतप : प्रायश्चित्त, विनय, वैयाकृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

प्रश्न १० : देवदर्शन पाठ का पहला पद्य अच्छा क्यों लगा?

उत्तर : किसी भी परिस्थिति के, कार्य के यथार्थ कारण ज्ञात हो जाने पर, उस

कार्यको नष्ट करना सरल हो जाता है; क्योंकि जब हम उन कारणोंको ही नष्ट कर देंगे तो कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा। हम अनादिकाल से दुखी हैं, दुःख एक कार्य है, पर हमें उसके यथार्थ कारण ज्ञात नहीं थे; अतः विविध उपाय करने के बाद भी हम सुखी नहीं हो पा रहे थे। इस पद्य में हमारे दुःखों के यथार्थ कारणों का हमें ज्ञान कराया गया है; जिन्हें जानकर, उन्हें नष्ट कर हम सुखी हो सकते हैं— इस प्रकार हमारे दुःखों के यथार्थ कारण बताए गए होने से यह पद्य हमें अच्छा लगा।

प्रश्न ११ : देवदर्शन पाठ का दूसरा पद्य अच्छा क्यों लगा ?

उत्तर : किसी भी कार्य से प्राप्त होनेवाले लाभों का ज्ञान हो जाने पर उस कार्य के प्रति विशेष रुचि, विशेष उत्साह जागृत होता है; जिससे मन अन्य निरर्थक कार्यों से हटकर, एकाग्रतापूर्वक उस सार्थक कार्य में ही लग जाता है। प्रस्तुत पद्य में जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से, उन्हें पहिचानने से होनेवाले लाभों का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिसे समझकर हमारा मन इस कार्य में विशेष रूप से लगने लगता है— इस प्रकार मन को एक अच्छे कार्य में लगाने की प्रेरणा देनेवाला होने से हमें यह पद्य अच्छा लगा।

प्रश्न १२ : देवदर्शन पाठ का तीसरा पद्य अच्छा क्यों लगा ?

उत्तर : इस पद्य में सम्पूर्ण सावद्ययोगों से रहित, घर-गृहस्थी संबंधी आकुलताओं से रहित, संवर-निर्जरा की उत्कृष्टतम दशारूप, आस्रव-बंध के अभावमय वास्तविक मुनि बनने की भावना भाई गई है। मुनि जीवन सभी प्रसंगों में समतारसमें निमग्न आनन्दमय जीवन का दूसरा नाम है। यह केवल-ज्ञान की तलहटी तथा मुक्ति का साक्षात् मार्ग है। ऐसे निराकुल सुखमय मुनि बनने की भावना इसमें भाई गई होने से हमें यह अच्छा लगा।

प्रश्न १३ : देवदर्शन पाठ का चौथा पद्य अच्छा क्यों लगा ?

उत्तर : इस पद्य में असार संसार-सागर से पार होने में कारणभूत अरहंत दशा को प्राप्त करने के एकमात्र उपाय रूप अपने परिपूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव में पूर्ण रमणता की भावना भाई गई है। अनंत आकुलतामय कर्ता-कर्म आदि भेदों को तथा रागादि विकारों को नष्ट कर आनन्द के कन्द, अनंत चतुष्टय सम्पन्न, जीवों को समीचीन मार्ग बतानेवाले अरहंत बनने की भावना भाई गई है। इसके अतिरिक्त परमसुखी होने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है— इस प्रकार परम निराकुल सुख का यथार्थ मार्ग इसमें बताया गया होने से यह पद्य हमें अच्छा लगा।

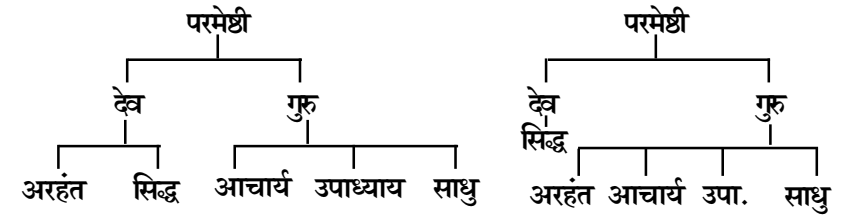
०००

प्रश्न १ : णमोकार मंत्र में किन्हें नमस्कार किया गया है ?

उत्तर : णमोकार मंत्र में सबसे पहले पूर्ण वीतरागी और पूर्ण ज्ञानी अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। उसके बाद वीतरागी मार्ग पर चलने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है— इस प्रकार इसमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु— इन पंच परमेष्ठीओं को नमस्कार किया गया है।

प्रश्न २ : परमेष्ठी किसे कहते हैं, वे कितने और कौन-कौन हैं ?

उत्तर : आत्मसाधना के माध्यम से जो परमपद में स्थित हुए हैं, उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। संख्या में पाँच होने से उन्हें पंचपरमेष्ठी कहते हैं। उनके नाम अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं। देव और गुरु में इनका विभाजन इस प्रकार होता है—



— इस प्रकार ये पाँचों परमेष्ठी संक्षेप में देव-गुरु— इन दो शब्दों में समाहित हो जाते हैं। सिद्ध भगवान देव हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु मुनिराज गुरु हैं। अरहंत परमेष्ठी देव भी हैं और गुरु भी। पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ, जीवन्मुक्त, अनंतचतुष्टय सम्पन्न ज्ञानानंदमय होने से देव हैं तथा जिस प्रकार गुरुओं से हमें उपदेश मिलता है, उनसे कुछ सीखने को मिलता है, मार्गदर्शन मिलता है, ज्ञान मिलता है; उसी प्रकार अरहंत भगवान से भी उनकी दिव्यध्वनि द्वारा हमें उपदेश मिलता है, मार्गदर्शन मिलता है, ज्ञान मिलता है; अतः गुरु भी हैं। इस प्रकार अरहंत परमेष्ठी देव और गुरु दोनों हैं।

प्रश्न ३ : अरहंत भगवान के छ्यालीस गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : वास्तव में तो अनंतचतुष्टयरूप चार गुण ही आत्मा से संबंधित होने के

कारण अरहंत भगवान के वास्तविक गुण हैं; शेष अतिशय आदि, बाह्य विभूति आदि तथा शरीर आदि भी उनके संयोग में होने से उन संबंधी विशेषताएँ, उनके गुण कहे जाते हैं। इस प्रकार उनके निम्नलिखित छ्यालीस गुण प्रसिद्ध हैं—

चौतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।

अनंत चतुष्टय गुण सहित, छ्यालीसों गुण ठाठ ॥

इनका विस्तार इस प्रकार है—

ज्ञानअनन्त, अनन्तसुख, दरसअनन्त प्रमान।

बलअनन्त अरहंत सो, इष्टदेव पहिचान ॥

अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य—ये चार अनन्त चतुष्टय;

अतिशय रूप सुगंध तन, नाहिं पसेव-निहार।

प्रिय हित वचन अतुल्यबल, रुधिर श्वेत आकार ॥

लच्छन सहस रु आठ तन, समचतुष्क संठान।

वज्रवृषभनाराचजुत, ये जनमत दश जान ॥

अत्यंत सुंदर शरीर, अति सुगंधित तन, पसीना रहित शरीर, मल-मूत्र रहित शरीर, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, अतुल्य बल, दूध के समान सफेद रक्त, एक हजार आठ लक्षणों से सहित शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन—ये जन्म संबंधी दश अतिशय;

योजन शत इक में सुभिख, गगन-गमन मुख चार।

नहिं अदया उपसर्ग नहिं, नाहीं कवलाहार ॥

सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बड़े, नख केश।

अनिमिष दुग छाथारहित, दश केवल के वेश ॥

सौ योजन तक सुभिक्षता (दुष्काल का अभाव), आकाश में गमन, चारों ओर मुख दिखना, अदया का अभाव, उपसर्ग नहीं होना, कवलाहार नहीं होना, समस्त विद्याओं के स्वामी होना, नख-केश नहीं बढ़ना, नेत्रों की पलकें नहीं झपकना, शरीर की छाया नहीं पड़ना—ये केवल ज्ञान संबंधी दश अतिशय;

देवरचित हैं चारदश, अर्धमागधी भाष।

आपस माँही मित्रता, निर्मल दिश आकाश ॥

होत फूल फल ऋतु सबै, पृथिवी काँच समान।

चरण कमल तल कमल हैं, नभ तैं जय जय बान ॥

मन्द सुगंध बयारि पुनि, गन्धोदक की वृष्टि।

भूमि विषैं कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥

धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार।

अतिशय श्री अरहन्त के, ये चौतीस प्रकार ॥

भगवान की दिव्यध्वनि का अर्धमागधी भाषा में परिवर्तित होना, समस्त जीवों में परस्पर मित्रता होना, दिशाओं का निर्मल होना, आकाश निर्मल होना, सब ऋतुओं के फल-फूल एक ही समय में फलना-फूलना, एक योजन तक की भूमि दर्पण के समान निर्मल हो जाना, विहार के समय भगवान के चरण-कमलों के नीचे स्वर्णकमलों का होना, आकाश में जय-जय की ध्वनि होना, मंद सुगंधित हवा चलना, मंद-मंद सुगंधित जल की वर्षा होना, पवन कुमार देवों द्वारा भूमि निष्कंटक की जाना, समस्त जीवों का आनंदमय होना, भगवान के आगे धर्मचक्र चलना, आठ मंगलद्रव्य साथ में रहना—ये देवकृत चौदह अतिशय;

तरु अशोक के निकट में, सिंहासन छविदार।

तीन छत्र सिरपै लसैं, भामण्डल पिछवार ॥

दिव्यध्वनि मुखतैं खिरै, पुष्पवृष्टि सुर होय।

ढोरैं चौंसठि चमर जख, बाजैं दुन्दुभि जोय ॥

अशोक वृक्ष का होना, रत्नजड़ित सिंहासन, भगवान के ऊपर तीन छत्र होना, भगवान के पीछे भामण्डल होना, भगवान के सर्वांग से निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरना, देवों द्वारा फूलों की वर्षा की जाना, यक्ष जाति के देवों द्वारा चौंसठ चँवर ढोरना, दुन्दुभी बाजे बजना—ये आठ प्रातिहार्य;

इस प्रकार चार, दश, दश, चौदह, आठ—कुल छ्यालीस अरहंत भगवान के गुण हैं।

प्रश्न ४ : आठ मंगल द्रव्य कौन-कौन से हैं?

उत्तर : झारी, कलश, दर्पण, चँवर, ध्वजा, बीजना (हाथ से हिलाया जाने वाला पंखा), छत्र, सुप्रतिष्ठ—ये आठ मंगल द्रव्य हैं।

प्रश्न ५ : 'गृहस्थपना छोड़कर'—इसका भाव क्या है?

उत्तर : गृहस्थी में रहने का भाव अर्थात् जिस कारण हम घर आदि में रहना चाहते हैं, उसे गृहस्थपना कहते हैं। मुख्यतया निम्नलिखित कारणों से हम घर-गृहस्थी में रहना चाहते हैं; अर्थात् निम्नलिखित भाव गृहस्थपना हैं—

१. अपने अंदर अनेक प्रकार के मोह, राग, द्वेष आदि भाव विद्यमान होने

से, अपने सम्बंधियों के प्रति अनेक प्रकार की जिम्मेदारियों, जवाबदारियों का निर्वाह करने के लिए हम घर में रहते हैं।

२. मोह, राग, द्वेष के कारण हमें अनेकों कार्य करने के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। उन सबको व्यवस्थित रूप में करने के लिए हम समय से प्रतिबद्ध होते हैं, समयानुसार कार्य करते हैं। समयानुसार कार्य करने का भाव गृहस्थपना है।

३. सामाजिक प्राणी तथा मोही, रागी, द्वेषी होने के कारण एकाकी जीवन हमें अच्छा नहीं लगता। सबके साथ रहने का भाव गृहस्थपना है।

४. अनेकों इच्छाएं होने से उनकी पूर्ति के लिए, अपनी अनुकूलता के अनुसार भोजन-पानी प्राप्त करने की सुविधा के लिए हम घर में रहते हैं; अर्थात् ऐसा भाव गृहस्थपना है।

५. ठण्डी-गर्मी आदि प्रतिकूल वातावरण से बचने का भाव गृहस्थपना है।

६. हमारा मन अत्यंत कमजोर होने से हम दूसरों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते हैं; इस कारण हम घर में रहते हैं; अर्थात् यह भाव गृहस्थपना है।

७. हमें अनेक प्रकार के विषय-भोगों की तीव्रतम लालसा होने से तथा पराधीनता सहन करने की आदत बन जाने से, वह अधिक दुःखमय न लगने के कारण हम घर में रहते हैं।

८. पुण्य-पाप के उदय से प्राप्त संयोगों के प्रति समभाव अर्थात् वैराग्य भाव न होने के कारण हम घर में रहते हैं।

इत्यादि अनेक प्रकार के भावों के वशीभूत होकर हम घर-गृहस्थी में रहते हैं; ये सभी भाव गृहस्थपना कहलाते हैं।

इन भावों का अभाव हो जाना अर्थात् इन सबसे भिन्न अलौकिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति होना 'गृहस्थपना छोड़कर' का भाव है। मात्र घर-कुटुंब छोड़ना, गृहस्थपना छोड़ना नहीं है; क्योंकि वह तो तीव्र पाप के उदय में या मरण होने पर अपने आप ही छूट जाता है; उसमें हमारे वर्तमान पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रश्न ६ : कर्म किसे कहते हैं? उसके कितने भेद हैं?

उत्तर : वैसे तो कर्म शब्द के अनेकों अर्थ होते हैं; परन्तु इस प्रकरण में परस्पर संबंधवाले जीव और पुद्गलों के विकारी परिणामन को कर्म कहा गया है। उसके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म—ये तीन भेद हैं।

१. **द्रव्यकर्म**—जीव के मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों का निमित्त पाकर कर्मणवर्णारूप पुद्गल स्कंधों का ज्ञानावरणादि कर्मरूप विशेषप्रकार का परिणामन द्रव्यकर्म कहलाता है। इसके घाति और अघाति—ये दो भेद हैं; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय—ये चार कर्म जीव के अनुजीवि गुणों के घात में निमित्त होने से घातिकर्म कहलाते हैं; तथा आयुष्क, नाम, गोत्र, वेदनीय—ये चार कर्म जीव के अनुजीवि गुणों के घात में निमित्त नहीं होने से अघातिकर्म कहलाते हैं।

२. **भावकर्म**—पूर्वबद्ध मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों के उदय में होने वाले जीव के मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों को भावकर्म कहते हैं।

३. **नोकर्म**—मोह, राग, द्वेष आदि भावकर्मों के उत्पन्न होने में आश्रयभूत कारणमय शरीर, घर, कुटुंब आदि बाह्य पदार्थों को नोकर्म कहते हैं। **(इनका विस्तार आगे वीतराग विज्ञान विवेचिका के कर्म नामक पाठ में पढ़ेंगे।)**
प्रश्न ७ : अरहंत भगवान के कितने कर्मों का अभाव हुआ है तथा उसके कारण कौन-कौन से गुण प्रगट हुए हैं?

उत्तर : अपने स्वभाव में पूर्ण लीनता के कारण अरहंत भगवान के ज्ञानावरण आदि चार घातिकर्मों का अभाव हुआ है तथा अनन्त चतुष्टयरूप चार गुण अर्थात् शुद्ध पर्यायें प्रगट हुई हैं। ज्ञानावरण के अभाव में अनंतज्ञान/केवल-ज्ञान, दर्शनावरण के अभाव में अनंतदर्शन/केवलदर्शन, मोहनीय के अभाव में अनन्तसुख और अन्तराय के अभाव में अनन्तवीर्य/बल प्रगट हुआ है। अरहंत भगवान के छ्यालीस गुणों अर्थात् विशेषताओं में से ये चार गुण ही उनके वास्तविक गुण हैं।

इन कर्मों का अभाव होने से उनके सम्पूर्ण मोह, राग, द्वेष आदि; अज्ञान आदि विकारों का अभाव हुआ है तथा पूर्ण स्वरूपलीनता प्रगट हुई है।

इस प्रकार अरहंत भगवान के सम्पूर्ण भावकर्मों का तथा चार द्रव्यकर्मों का अभाव हुआ है; शेष चार अघातिकर्म और नोकर्म उनके विद्यमान हैं।
प्रश्न ८ : सिद्ध भगवान के किन-किन कर्मों का अभाव हुआ है, तथा उनके अभाव में कौन-कौन से गुण प्रगट हुए हैं?

उत्तर : अरहंत भगवान ही बाद में सिद्ध भगवान बनते हैं; अतः उनके जिन सम्पूर्ण भावकर्मों और चार द्रव्यकर्मों का अभाव हुआ था, वह तो यहाँ भी है, इसके अतिरिक्त शेष चार द्रव्यकर्मों तथा नोकर्मों का भी इनके पूर्णतया

अभाव हो गया है— इस प्रकार सिद्ध भगवान के सम्पूर्ण कर्मों का अभाव है। कर्मों के अभाव में प्रगट हुए उनके गुण निम्नलिखित हैं—

द्रव्यकर्म का नाम	कर्म के अभाव में प्रगट होनेवाला गुण	द्रव्यकर्म का नाम	कर्म के अभाव में प्रगट होनेवाला गुण
ज्ञानावरण	अनंतज्ञान/केवलज्ञान	आयुष्क	अवगाहनत्व
दर्शनावरण	अनंतदर्शन/केवलदर्शन	नाम	सूक्ष्मत्व/अमूर्तिकत्व
वेदनीय	अव्याबाधत्व	गोत्र	अगुरुलघुत्व
मोहनीय	क्षायिक सम्यक्त्व	अंतराय	अनंतवीर्य

सिद्ध भगवान के ये आठ गुण तो कर्म की अपेक्षा से कहे जाते हैं; वास्तव में तो वे अनंत गुण-सम्पन्न हैं; उनके सभी गुणों का परिपूर्ण शुद्ध परिणामन हो गया है, उन्हें आत्मवैभव की परिपूर्ण उपलब्धि हो गई है, वे अनंत-सम्पदा के स्वामी हैं।

प्रश्न ९ : 'अरहंत भगवान कुछ समय बाद सिद्ध होते हैं' इस वाक्य में 'कुछ समय बाद का' क्या अर्थ है?

उत्तर : अरहंत बनने के बाद आयुष्कर्म जितना शेष है, उतने समय तक इसी दशा में रहकर, इसके बाद वे सिद्ध होते हैं। यहाँ आयुष्कर्म कम से कम अंतर्मुहूर्त शेष हो सकता है तथा अधिक से अधिक आठ वर्ष और दो अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष भी हो सकता है। मध्य के सम्पूर्ण भेद भी इसी में गर्भित समझना चाहिए। इस आयुष्कर्म के समय की समाप्ति पर ही अरहंत, सिद्ध भगवान बनते हैं। यह 'कुछ समय बाद' इस वाक्यांश का अर्थ है / भाव है।

प्रश्न १० : 'अंतिम शरीर से कुछ कम पुरुषाकार विराजमान हैं'— इस वाक्य का क्या भाव है?

उत्तर : जिस पुरुष-शरीर से सिद्ध दशा की प्राप्ति होती है, वह उनका अंतिम शरीर कहलाता है। शरीर के नसें, जठर, मूत्राशय, मलाशय, श्वासनलिका आदि अवयवों में कितना ही स्थान रिक्त होता है; वहाँ आत्मप्रदेश भी विरल होते हैं। शरीर की समाप्ति पर सभी आत्मप्रदेश इन रिक्त स्थानों पर जाकर ठोस, घनपिण्ड हो जाते हैं; अतः आत्मा का आकार अंतिम शरीर से कुछ कम हो जाता है। यह अंतिम शरीर नियम से पुरुष का ही होता है, इसलिए

इसकी समाप्ति के बाद भी आत्मा का आकार सदा-सदा के लिए ही पुरुषाकार रह जाता है। यह 'अंतिम शरीर से कुछ कम पुरुषाकार रूप से विराजमान हुए'— इस वाक्य का अर्थ है।

प्रश्न ११ : अरहंत परमेष्ठी किसे कहते हैं? उनके कितने गुण हैं?

उत्तर : जिस जीव के अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में पूर्ण स्थिरता के बल पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय— इन चार द्रव्य घातिकर्मों का तथा मोह, राग, द्वेष, अज्ञान आदि समस्त भाव घातिकर्मों का अभाव हो जाने से, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य रूप अनंत-चतुष्टय प्रगट हुए हैं; वे अरहंत भगवान कहलाते हैं। वे परमौदारिक शरीर और आयुष्क आदि चार अघातिकर्म सहित हैं। तीर्थंकर अरहंतों की अपेक्षा इनके छ्यालीस गुण प्रसिद्ध हैं; परंतु वास्तव में अरहंत के तो अनंत चतुष्टय ही मुख्य गुण हैं; शेष व्यालीस तो शरीर संबंधी, देवकृत अतिशय संबंधी, पुण्योदय और बाह्य विभूति संबंधी हैं।

प्रश्न १२ : अरहंत कैसे बनते हैं? यह बताते हुए अरहंत आदि नामों के कारण बताइए?

उत्तर : जो पुरुष मनुष्य जीव गृहस्थपना त्यागकर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार कर, अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की साधना में सतत लगे रहते हैं, वे जीव अखण्ड एक मुहूर्त की आत्मसाधना/आत्मलीनता द्वारा अरहंत बन जाते हैं।

अरहंत भगवान के अरहंत, अरिहंत और अरुहन्त— ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं। सौ इन्द्रों द्वारा पूजनीय या त्रैलोक्यपूज्य होने से, वे अरहन्त कहलाते हैं। पूज्य अर्थवाले 'अर्ह' शब्द से अरहंत बनता है।

अपने मोह, राग, द्वेष आदि शत्रुओं को नष्ट करनेवाले होने से, वे अरिहन्त कहलाते हैं। अरि=शत्रु, हंत=नष्ट करनेवाले।

पुनः संसार में जन्म नहीं लेने के कारण वे अरुहन्त कहलाते हैं। अ=नहीं, रुहंत=जन्म लेनेवाले।

इसी प्रकार अन्य-अन्य कारणों से अरहंत भगवान के जीवन्मुक्त आदि अनेकों नाम भी प्रसिद्ध हैं।

प्रश्न १३ : सिद्ध परमेष्ठी किन्हें कहते हैं? उनके कितने गुण हैं? यह जीव सिद्ध कैसे बनता है?

उत्तर : सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का पूर्णतया अभाव हो जाने से पूर्णनिर्विकारी, आनंदमय, आत्मिकगुणों की प्राप्ति ही सिद्धदशा है; अथवा अपने आत्मस्वरूप की पूर्ण उपलब्धि ही सिद्धदशा है। यहाँ अपने आत्मा के सभी गुण पूर्ण शुद्धरूप से परिणमित हो जाते हैं। - इसप्रकार सिद्ध भगवान परिपूर्ण शुद्ध अनंत गुणमय हैं। आठ कर्मों के अभाव की अपेक्षा उन्हें मुख्य रूप से आठ गुणमय कहा जाता है। वे इसप्रकार हैं -

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना ।

सूक्ष्म वीरजवान, निराबाध गुण सिद्ध के ॥

क्षायिकसम्यक्त्व, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहन-त्व, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य, अव्याबाधत्व - ये उनके आठ कर्मों के अभाव में प्रगट होने वाले आठ गुण हैं।

अरहंत भगवान ही सिद्ध भगवान बनते हैं; अतः अरहंत बनने की प्रक्रिया इनमें भी समाहित है। गृहस्थपना त्यागकर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म धारण कर, एकमुहूर्तपर्यंत अखंड आत्मस्थिरता द्वारा अनंतचतुष्टयमय अरहंत बनने के बाद शुक्लध्यानरूप परिपूर्ण स्वरूपलीनता द्वारा चार अघाति कर्मों का भी अभाव हो जाने पर समस्त अन्य द्रव्यों का संबंध छूट जाने से, यह जीव सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है। इनका अंतिम शरीर से कुछ कम पुरुषाकार होने पर भी वास्तव में ये अशरीरी, निराकार हैं; सभी कर्मों से रहित कृतकृत्य हैं।

प्रश्न १४ : आचार्य परमेष्ठी किसे कहते हैं? उनके कितने व कौन-कौन से गुण हैं?

उत्तर : जब कोई मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप सम्यक्त्वनत्रय से विशिष्ट विशेषता प्राप्त कर लेते हैं तो वे अपनी इस योग्यता के कारण मुनिसंघ के नायक अर्थात् आचार्य हो जाते हैं। उनका मुख्य कार्य तो निर्विकारी स्वरूपाचरण में ही निमग्न रहना है; परन्तु कभी-कभी रागांश के उदय से यदि करुणाबुद्धि उत्पन्न हुई, तो धर्मलोभी जीवों को धर्मोपदेश दे देते हैं; दीक्षा लेने के इच्छुक जीव का परीक्षण कर योग्य होने पर उसे दीक्षा देते हैं, अपने दोष प्रगट करनेवाले को प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करते हैं; स्वयं पंचाचारों का पालन करते हैं तथा अन्य मुनिराजों से कराते हैं। सामान्य साधु के अट्ठाईस मूलगुणों के साथ इनमें छत्तीस गुण और भी होते हैं। वे इसप्रकार हैं -

द्वादश तप दश धर्मजुत, पालें पंचाचार ।

षट आवशि त्रयगुप्ति गुण, आचारज पद सार ॥

१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति - ये ३६ मूलगुण आचार्य परमेष्ठी के हैं। इनके नाम इसप्रकार हैं -

अनशन ऊनोदर करें, व्रत संख्या रस छोर ।

विविक्त शय्यासन धरें, काय कलेश सुठोर ॥

प्रायश्चित्त धर विनयजुत, वैयाव्रत स्वाध्याय ।

पुनि उत्सर्ग विचारकै, धरै ध्यान मन लाय ॥

बारह तप : अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशैयासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान;

छिमा मारदव आरजव, सत्यवचन चितपाग ।

संजम तप त्यागी सरव, आकिञ्चन तियत्याग ॥

दशधर्म : उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन, ब्रम्हचर्य;

समता धर वंदन करें, नाना थुती बनाय ।

प्रतिक्रमण स्वाध्याय जुत, कायोत्सर्ग लगाय ॥

छह आवश्यक : समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय/प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग;

दर्शन ज्ञान चरित्र तप, वीरज पंचाचार ।

गौर्ये मन वच काय को, गिन छत्तिस गुणसार ॥

पंचाचार : दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार ।

तीन गुप्ति : मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति;

इसप्रकार आचार्य के २८ + ३६ = कुल ६४ गुण होते हैं; परन्तु सभी साधुओं के २८ मूलगुण सामान्य होने से, उनसे विशिष्ट पृथक् करने के लिए उन्हें ३६ गुणवाला कहते हैं; तथापि २८ मूलगुण न हों तो ये ३६ ही नहीं सकते हैं।

प्रश्न १५ : उपाध्याय परमेष्ठी किसे कहते हैं। उनके कितने व कौन-कौन से गुण होते हैं?

उत्तर : सामान्य मुनिराजों में से ही जो अनेक जैन शास्त्रों के ज्ञाता होकर मुनिसंघ में पढ़ने-पढ़ाने के अधिकारी होते हैं, वे मुनिराज उपाध्याय परमेष्ठी

कहलाते हैं। इनका मुख्य काम तो आत्म-स्वरूप में लीनता ही है; परन्तु जब अपने स्वरूप में लीन नहीं रह पाते हैं, तब जैन शास्त्रों के पठन-पाठन में प्रवृत्त होते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी भी साधु होने के कारण अट्ठाईस मूलगुण तो उनमें पाए ही जाते हैं, इसके अतिरिक्त वे मुख्यतया द्वादशांग के पाठी होने से उनके पच्चीस गुण विशेष हैं। जो इसप्रकार हैं—

**प्रथमहिं आचारांग गनि, दूजौ सूत्रकृतांग ।
ठाणअंग तीजौ सुभग, चौथो समवायांग ॥
व्याख्यापणति पाँचमौ, ज्ञातृकथा षट्जान ।
पुनि उपासकाध्ययन है, अंतःकृत दश ठान ॥
अनुत्तरण उत्पाद दश, सूत्रविपाक पिछान ।
बहुरि प्रश्नव्याकरण जुत, ग्यारह अंग प्रमान ॥**

ग्यारह अंग— आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतःकृतदशांग, अनुत्तरोप-पादिकदशांग, विपाकसूत्रांग, प्रश्नव्याकरणांग;

**उत्पादपूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद ।
अस्तिनास्तिपरवाद पुनि, पंचम ज्ञानप्रवाद ॥
छट्टो कर्मप्रवाद है, सतप्रवाद पहिचान ।
अष्टम आत्मप्रवाद पुनि, नवमौ प्रत्याख्यान ॥
विद्यानुवाद पूरव दशम, पूर्वकल्याण महन्त ।
प्राणवाद किरिया बहुल, लोकबिन्दु है अन्त ॥**

चौदह पूर्व— उत्पाद पूर्व, आग्रायणी पूर्व, वीर्यानुवाद पूर्व, अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, कर्मप्रवाद पूर्व, सत्यप्रवाद पूर्व, आत्म-प्रवाद पूर्व, प्रत्याख्यान पूर्व, विद्यानुवाद पूर्व, कल्याणवाद पूर्व, प्राणानुवाद पूर्व, क्रियाविशाल पूर्व, लोकबिंदु पूर्व।

इसप्रकार उपाध्याय परमेष्ठी २८ + २५ = कुल ५३ गुण सम्पन्न होते हैं। सामान्य साधुओं से पृथक् करने के लिए उन्हें २५ गुणवाला कहा जाता है।

प्रश्न १६ : साधु परमेष्ठी किसे कहते हैं? तथा साधु होने का उपाय क्या है?
उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बल पर आत्मस्वभाव में लीन रहनेवाले मुनिराज साधु परमेष्ठी हैं। जब कभी वे अपने स्वभाव में लीन नहीं रह पाते; तब अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डरूप से पालन करते हैं। वे सभी प्रकार के

आरंभ और परिग्रह से सतत दूर रहते हैं; सर्व सांसारिक प्रपंचों से पूर्णतया पृथक् रहते हुए सदा ज्ञान-ध्यान में ही लीन रहते हैं; स्वरूप की साधना करनेवाले होने से उन्हें साधु तथा आत्मा का मनन करनेवाले होने से मुनि कहते हैं। इसीप्रकार अपने आत्मस्वभाव में लीन होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहने के कारण उन्हें यति कहते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्वाचरण चारित्ररूप सम्यक्चारित्र की प्रगटता हो जाने से जो जीव, अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव कर रहा है; वह उसमें वृद्धि-हेतु निरंतर तत्त्वाभ्यास, आत्मचिंतन-मनन पूर्वक स्व-पर का भेदविज्ञान दृढ़ करता है; संसार-शरीर-भोगों के प्रति उदासीनता बढ़ती जाती है; अशुभभाव के समान शुभभाव भी उसे आकुलतामय, कष्टकर, लगने लगते हैं; अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रसंगों पर समभावी रहने का अभ्यास हो जाने से, उसकी सहनशीलता भी बढ़ जाती है। पर पदार्थों संबंधी राग-द्वेष कम होते जाने के कारण वह स्वयं मुनि होना चाहता है, परिणामस्वरूप वह अंतरंग-बहिरंग आरंभ-परिग्रह का त्यागकर शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करता है। अंतरंग में शुद्धोपयोग के माध्यम से वे मुनिराज अपने आत्मा का अपनत्व रूप में अनुभव करते रहते हैं; अपने उपयोग को यहाँ-वहाँ अधिक नहीं भटकाते हैं। यद्यपि मंद राग का उदय होने से उनके कदाचित् शुभोपयोग भी होता है, अट्ठाईस मूलगुणरूप प्रवृत्ति होती है, यत्नाचारपूर्वक आहार-विहार-निहार आदि में प्रवृत्ति होती है; पर वे उसे हेय ही मानते हैं। आत्मस्वरूप की साधना-हेतु वे जनसंपर्क से दूर जंगल, पर्वत, गुफा आदि में निवास करते हैं। - ऐसे साधु परमेष्ठी होते हैं।

प्रश्न १७ : अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अरहंत-सिद्ध दोनों पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ परमेष्ठी होने पर भी इन दोनों में अंतर इसप्रकार है—

अरहंत	सिद्ध
१. अरहंत भगवान केमात्र चारघाति कर्मों का अभाव हुआ है।	सिद्ध भगवान केघाति-अघाति सभी आठोंही कर्मोंका अभाव होगया है।
२. अरहंत भगवान के मुख्य रूप से छ्यालीस गुण प्रसिद्ध हैं, उनमें से अनंत चतुष्टय आत्मिक गुण हैं।	सिद्ध भगवान के मुख्यतया आठकर्मों के अभाव संबंधी आठ गुण प्रसिद्ध हैं; परन्तु वास्तव में तो उनके सम्पूर्ण

३. ये शरीर सहित होने के कारण मनुष्यलोक में रहते हैं तथा जीवन-मुक्त संसारी कहलाते हैं।

४. इनके अभी परद्रव्यों का संबंध विद्यमान है।

५. ये उपदेश देते हैं, इनका विहार भी होता है।

६. इनके मन, वचन, काय संबंधी योग विद्यमान है।

७. इनके सातावेदनीयकर्म का ईर्या-पथ आस्रव है।

८. ये मनुष्यगति के जीव हैं।

९. ये देव और गुरु दोनों में हैं।

१०. ये पारिणामिक, क्षायिक और औदयिक भाव युक्त हैं।

११. ये अनंतसुखी हैं, पर अभी पूर्ण कृतकृत्य नहीं हैं।

१२. ये १३वें-१४वें गुणस्थानवर्ती हैं।

गुणों का परिपूर्ण शुद्ध परिणमन हो जाने से वे अनंतवैभव सम्पन्न हैं।

ये शरीर रहित होने से ऊर्ध्वलोक में रहते हैं तथा देहमुक्त, नोकर्ममुक्त, पूर्ण मुक्त सिद्ध कहलाते हैं।

ये परद्रव्यों के संबंध से पूर्णतया मुक्त हैं।

ये इन सबसे पूर्णतया रहित हैं।

ये योगों से पूर्णतया रहित निष्क्रिय, अचल हैं।

ये पूर्ण निरास्रवी हैं।

सिद्धगति पंचमगति कहलाती है।

ये मात्र देव हैं।

ये मात्र क्षायिकव पारिणामिकभाव-युक्त हैं।

ये अव्याबाधसुखी हो जाने से पूर्ण कृतकृत्य हैं।

ये गुणस्थानातीत हैं।

इत्यादि रूप में अरहंत और सिद्ध भगवान के बीच अंतर है।

प्रश्न १८ : पंचपरमेष्ठी पूज्य क्यों हैं?

उत्तर : वीतराग विज्ञानमय होने के कारण पंच परमेष्ठी पूज्य हैं। लोक में भी रागादि विकारी भावों से रहित दशा पूज्य मानी जाती है तथा ज्ञान के उत्कृष्ट-तम विकास के लिए तो सभी सतत प्रयत्नशील रहते हैं। अरहंत, सिद्ध भगवान तो पूर्ण वीतराग-विज्ञानमय हो जाने के कारण परमपूज्य हैं ही; आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी भी अधिकांशतया वीतराग-विज्ञानमय हो जाने से तथा पूर्ण वीतराग-विज्ञानमय होने के लिए सतत आत्मसाधना में रत रहने के कारण पूज्य हैं।

○○○

प्रश्न १ : मूलगुण किसे कहते हैं?

उत्तर : वीतरागता या अतीन्द्रिय आनंद रूपी गुण प्रगट करने के लिए जो मूल अर्थात् जड़ या नींव के समान आधारभूत होते हैं, उन्हें मूलगुण कहते हैं। जैसे नींव के बिना मकान नहीं बन सकता, जड़ के बिना वृक्ष नहीं हो सकता; उसी प्रकार जिनके बिना जीवन निराकुलतामय, सुखी होना संभव नहीं है, उन्हें मूलगुण कहते हैं।

प्रश्न २ : मूलगुण कितने और कौन-कौन से हैं? उनका विश्लेषण मुख्यतया कितने प्रकार से किया गया है?

उत्तर : वास्तव में तो संपूर्ण पर पदार्थों से दृष्टि हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्व-भावी आत्मा का अपनत्व रूप से श्रद्धान, ज्ञान और उसमें ही स्थिरतारूप चारित्र निराकुल सुख के कारण होने से मूलगुण हैं। ये उस सुख के वास्तविक कारण होने से निश्चय मूलगुण कहलाते हैं। इसके साथ ही जिन पदार्थों के सेवन से जीवों की हिंसा होती है, शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ता है, बुद्धि-स्मरण शक्ति नष्ट होती है—उन सबका त्याग आत्मसाधना में सहकारी होने के कारण उपचार से मूलगुण कहलाता है। इन्हें व्यवहार मूलगुण भी कहते हैं। संख्या में आठ होने से ये अष्ट मूलगुण कहलाते हैं।

जिनागम में इनका विश्लेषण तीन प्रकार से किया गया है—

१. मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रम्हचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत—ये आठ मूलगुण हैं।

२. मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, पंचोदुम्बर फलों का त्याग, रात्रि भोजन त्याग, बिना छने जल का त्याग, देव दर्शन की प्रतिज्ञा, जीव दया।

३. मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग; बरगद, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर—इन ५ के फलों का त्याग—ये आठ मूलगुण हैं।

इनमें से तीसरे नं. के मूलगुणों का वर्णन इस पाठ में किया गया है।

प्रश्न ३ : मद्यत्याग क्यों आवश्यक है?

उत्तर : मद्य अर्थात् शराब पदार्थों को सड़ाकर बनाई जाती है, सड़ाते समय

उसमें असंख्य जीवों की उत्पत्ति होती है, जिनका शराब बनाते समय मरण हो जाता है। — इस प्रकार यह स्वयं हिंसामूलक है। इसके अतिरिक्त यह नशा-कारक होने से मनुष्य की बुद्धि और विवेक को नष्ट कर उसे पागल के समान मदोन्मत्त बना देती है; जिससे घर, परिवार, कुटुम्ब आदि सभी कुछ नष्ट हो जाते हैं। सामाजिक जीवन भी नष्ट हो जाता है; कोई भी सभ्य, विवेकी व्यक्ति शराब पीनेवाले का साथ नहीं चाहता, उसका विश्वास भी नहीं करता, इस-कारण धर्मोपदेश सुनने आदि के अवसर भी समाप्त हो जाते हैं; इसलिए आत्मकल्याण करने के इच्छुक जीव को मद्य का त्याग अवश्य करना चाहिए।

मद्यत्याग से तात्पर्य मात्र शराब त्याग से ही नहीं है; अपितु अफीम, गाँजा, भाँग, गुटखा, ड्रग्स, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, पानमसाला आदि उन सभी से है, जो नशाकारक हैं; — आत्मार्थी को इनका त्याग करना चाहिए।

प्रश्न ४ : मधुत्याग क्यों आवश्यक है?

उत्तर : मधु (शहद) स्वयं फूलों का रस होने से विषय-वासनाओं को बढ़ाने वाला होने के कारण तथा फूल स्वयं वनस्पतिकायिक अनंत जीवों का और त्रस जीवों का घर होने से हिंसामय, अत्यंत अपवित्र पदार्थ है। इसके अतिरिक्त इसे मधुमक्खिआँ इकट्ठा करती हैं। उनके पास कोई अन्य बर्तन आदि न होने से वे अपने मुख में ही फूलों आदि का रस लाकर उसे अपने छत्ते (घर) में इकट्ठा करती हैं; अर्थात् यह उनका जूँठा पदार्थ है। वे इसी घर में रहती भी हैं, उनका मल-मूत्र आदि भी वहाँ ही बना रहता है। छोटी-छोटी मधु-मक्खिआँ भी वहाँ ही रहती हैं, उसी में और भी असंख्य त्रस जीव सतत पैदा होते रहते हैं, मरते रहते हैं। कभी-कभी तो शहद इकट्ठा करनेवाले इन छत्तों को कपड़ों के समान निचोड़ते हैं, जिससे असंख्य त्रस जीव मर जाते हैं।

इस प्रकार स्वयं ही उच्छिष्ट, मल-मूत्रसहित, अपवित्र होने से तथा त्रस जीवों के घात से तैयार होने के कारण यह किसी भी रूप में उपयोग करने-योग्य/छूने-योग्य भी नहीं है; अतः आत्मार्थी को इसका त्याग करना चाहिए।

प्रश्न ५ : माँस त्याग क्यों आवश्यक है?

उत्तर : माँस गाय, भैंस आदि त्रस जीवों की हिंसा से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त माँस में उस पशु की ही जातिवाले असंख्य त्रस जीव सतत उत्पन्न होते रहते हैं। इसके भक्षण से उन सब जीवों का घात हो जाता है। भक्षक जीव

के परिणाम अति क्रूर हो जाते हैं। दया, करुणा आदि नष्ट-प्राय हो जाते हैं। अपने परिवार, कुटुम्ब, समाज आदि के साथ भी उसका व्यवहार स्नेहमय नहीं रह जाता है। वह छोटी-छोटी सी बातों में लड़ने-झगड़ने, मरने-मारने को भी तैयार रहता है। ऐसे दुष्ट परिणामी के आत्महित की भावना संभव नहीं है।

माँस-भक्षण से शारीरिक स्वास्थ्य पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है।

अण्डे भी किसी माँ की अपरिपक्व संतान तथा माँस के पिण्ड होने से उसी कोटि में आते हैं; अतः आत्महितार्थी को उनका त्याग करना आवश्यक है।

अण्डे को शाकाहारी कहना मात्र एक व्यापारिक षडयंत्र है। शाक, सब्जी, फल आदि किसी बेल, पौधे या पेड़ पर लगते हैं, फलते हैं; अण्डे किसी बेल, पौधे या पेड़ पर नहीं फलते हैं; वे मनुष्य आदि की संतान के समान गर्भ में रहकर योनिमार्ग से ही बाहर निकलते हैं। वे पंचेन्द्रिय त्रसजीव के शरीर हैं; उन्हें शाकाहार कहना नितांत भ्रम है, क्रूर हिंसक प्रवृत्तिमय अज्ञानता है।

दूध से भी इस अण्डे की तुलना नहीं की जा सकती; कारण कि दूध तो बेटे के प्रति माता की ममता और करुणा के कारण दुग्ध ग्रंथिओं से उत्पन्न होता है। स्तन से दूध के न निकलने पर दूधधारी प्राणिओं को पीड़ा होती है। यह एक बेटे के प्रति वात्सल्य के प्रतीकरूप में प्रगट हुआ एक पवित्रतम पदार्थ है, जिसे महापुरुष भी ग्रहण करते हैं। इसके निकल जाने पर माँ या बेटे में से किसी का भी नाश नहीं होता है; अपितु माँ को संतुष्टि मिलती है तथा बच्चे का पालन-पोषण होता है; परन्तु अण्डा स्वयं गर्भस्थ शिशु होने से, उसे खाने से उस शिशु का ही नाश हो जाता है।

इस प्रकार अण्डा प्राणी का माँस होने से सर्वथा त्याज्य है।

इसके अतिरिक्त माँस, अंडे आदि पदार्थ अनेकानेक बीमारियों तथा दुष्प्रवृत्तिओं के घर हैं। आत्मबल को क्षीण कर उत्तेजना पैदा करते हैं। संपूर्ण विश्व के अधिकतम बुद्धिशाली, दार्शनिक जॉर्ज बर्नार्ड शाँ जैसे लोग भी शुद्ध शाकाहारी ही रहे हैं। माँस का कभी भूल से भी स्पर्शन करनेवाला तथा शक्ति का प्रतीक घोड़ा भी शुद्ध शाकाहारी ही होता है। आज तो इलेक्ट्रिक मशीन आदि की शक्ति को भी अश्वशक्ति से नापा जाता है। शुद्ध शाकाहारी हाथी के समान बल क्या किसी माँसाहारी शेर आदि में पाया जाना संभव है? नहीं। विश्वस्तर के खिलाड़ी, वैज्ञानिक आदि भी शाकाहारी ही होते हैं।

माँसाहार अपने आप में संतुलित आहार भी नहीं है। माँसाहार के साथ

फल, सब्जी आदि की आवश्यकता बनी ही रहती है; परन्तु शाकाहार एक पूर्ण संतुलित आहार है। दाल, चावल, गेहूँ, सब्जी आदि शाकाहारी पदार्थों से शरीरपोषक सभी विटामिन मिल जाने के कारण शाकाहारी को माँसाहार की तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती है।

इसके अतिरिक्त माँसाहार अधिक मँहगा होने के कारण देश की गरीबी बढ़ाने में सहायता करता है। वह पशु-पक्षियों की हिंसा से उत्पन्न होने के कारण पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या को भी बढ़ाता है। माँस उत्पादन में क्षेत्र तथा जल कृषि-उत्पादन की अपेक्षा कई गुना अधिक लगाने से वह क्षेत्र तथा जल की समस्या को भी उत्पन्न करता है।

इसप्रकार माँसाहार आदि सब ओर से हानिकारक होने के कारण आत्म-कल्याण के इच्छुक जीव को उसका सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

चमड़े के वस्त्र, बैग, पट्टे आदि; रेशमी वस्त्र आदि, भेड़ों आदि के केशों से निर्मित गर्म वस्त्र आदि तथा चर्बी युक्त शैम्पू, साबुन, टूथपेस्ट, घी, आइ-सक्रीम आदि भी इसी कोटि के होने के कारण अहिंसक आचरण करनेवाले जीव को इनका भी त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न ६ : पाँच उदुंबर फल किसे कहते हैं? उनका त्याग क्यों आवश्यक है?

उत्तर : जिन फलों में अनंत सूक्ष्म जीव तथा चलते-फिरते अनेकानेक स्थूल त्रस जीव होते हैं, उन्हें उदुंबर फल कहते हैं। अधिकांशतः ये फल, फूल के बिना ही उत्पन्न होते हैं तथा सीधे वृक्ष की डाली को फोड़कर उत्पन्न होते हैं (कुछ इसके अपवाद भी हैं)। संख्या में सामान्यतः पाँच होने के कारण ये पंच उदुंबर फल कहलाते हैं। इनमें बरगद-फल, पीपल-फल, पाकर-फल, ऊमर-फल और कटूमर फल (अंजीर) आते हैं। इन्हीं के समान अन्य फल भी इन्हीं में गर्भित हो जाते हैं। ये फल अनेकानेक जीवों के भंडार होने से इनका भक्षण हिंसामय, प्रमादकारक, रोगोत्पादक होने से आत्मार्थी को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए।

प्रश्न ७ : आत्मज्ञान के बिना जब कोई भी त्याग आत्मकल्याणकारी होता ही नहीं; तब फिर मद्य आदि का त्याग इसके पूर्व करना क्यों आवश्यक है?

उत्तर : आत्मज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक मार्ग होने से इसके बिना अन्य पदार्थों का त्याग मुक्तिमार्ग की दृष्टि से कुछ भी कार्यकारी नहीं है; तथापि

लौकिक कार्यों के समान आत्मज्ञानरूपी कार्य करने के लिए भी एक विशिष्ट प्रकार की विशुद्धभावमय पात्रता आवश्यक होती है। उपर्युक्त आठ पदार्थों का त्याग किए बिना वह पात्रता प्रगट ही नहीं हो सकती है; अतः आत्मज्ञान के पूर्व इनका त्याग आवश्यक है।

मद्य आदि आठ वस्तुओं का सेवन करनेवाले जीव की दिनचर्या अत्यंत अव्यवस्थित हो जाने के कारण, उसके परिणाम भी अत्यंत क्रूर हिंसक रहने के कारण तथा समाज से भी तिरस्कृत रहने के कारण, वह देव-शास्त्र-गुरु की शरण में जाने का पात्र भी नहीं रह जाता है; अतः अपने अंदर मोक्षमार्ग की प्रगटता के लिए विशिष्ट पात्रता विकसित करने-हेतु उपर्युक्त पदार्थों का त्याग करना अत्यंत आवश्यक है; आठ मूलगुणों का पालन करना आवश्यक है।

पहले कहे हुए शेष दोनों प्रकार के मूलगुण भी विशेष पात्रता जागृत करने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। रात्रि भोजन और अनछने जल का प्रयोग तीव्ररामय तथा रोगोत्पादक होने से जीवन को अव्यवस्थित कर देता है।

अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों के पालन से जीवन व्यवस्थित हो जाता है। हम अनर्गल पापों से तथा समाज-दण्ड, राज-दण्ड आदि से भी बच जाते हैं; अतः आत्मार्थी के लिए इनका पालन भी अत्यावश्यक है।

इसी प्रकार प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव से हमारे अंदर की क्रूरता, दुष्टता, हिंसकवृत्ति नष्ट हो जाती है। व्यर्थ के राग, द्वेष, लड़ाई, झगड़ें नष्ट होकर जीवन व्यवस्थित हो जाता है; अतः इसका पालन भी अत्यावश्यक है।

इसी प्रकार विशिष्ट विशुद्धि जागृत करने के लिए देव-दर्शन भी अत्यंत आवश्यक है। हमारा मन इतना कमजोर है कि हम जैसे दृश्य देखते हैं, वैसे ही भाव मन में उत्पन्न होने लगते हैं। टी. वी. पर क्रिकेट आदि खेल देखते समय खेलने के भाव, नाच-गाना देखते समय नाचने-गाने के भाव इसके ही परिणाम हैं। इसी मनोविज्ञान के अनुसार यदि हम परम वीतरागी, शांत, सम्पूर्ण आरंभ-परिग्रह से रहित निर्दोष भगवान के दर्शन करते हैं तो हमारे मन में भी उनके समान बनने के भाव जागृत होते हैं, जो आत्महित की इच्छा रखनेवाले को अत्यंत आवश्यक हैं; अतः देवदर्शन भी प्रतिदिन करना चाहिए।

इस प्रकार ये आठों मूलगुण सुखी होने की पात्रता जागृत करनेवाले होने से सुख के इच्छुक जीव को इनका पालन करना अत्यंत आवश्यक है।○○○

प्रश्न १ : जिन किसे कहते हैं?

उत्तर : जिन्होंने मोह, राग, द्वेष और इन्द्रियों को जीत लिया है; उन्हें जिन कहते हैं अर्थात् अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में लीनता के बल पर जिनके जीवन में मोह, राग, द्वेष प्रगटनहीं होते हैं; जो इन्द्रियों के अधीन नहीं होते हैं; वे जिन हैं।

प्रश्न २ : जैन किसे कहते हैं?

उत्तर : 'जिन' के अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के भक्त को जैन कहते हैं; अथवा जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानता है, उनके द्वारा दिखाए गए मार्ग पर चलता है, उसे जैन कहते हैं।

प्रश्न ३ : लोक में कितने प्रकार के जैन पाए जाते हैं? उनका स्वरूप बताते हुए फल बताइए।

उत्तर : लोक में मुख्यतया तीन प्रकार के जैन पाए जाते हैं— नामजैन, द्रव्यजैन और भावजैन।

१. नामजैन : जो जीव जैन कुल में उत्पन्न होने मात्र से स्वयं को जैन मानते हैं; परन्तु जैनधर्म संबंधी आचार-विचार से, तत्त्वज्ञान से पूर्णतया रहित हैं, उन्हें नामजैन कहते हैं। जन्म जैन, कुल अपेक्षा जैन, कथनमात्र जैन, जातीय जैन इत्यादि इनके दूसरे नाम हैं।

ये जैन इस भरत क्षेत्र संबंधी हुण्डावसर्पिणी काल के पंचमकाल में जैन जाति में जन्म लेनेवाले ही होते हैं; अन्य जातिवाले नहीं।

इन्हें मात्र कुल में उत्पन्न होने से कुछ भी फल नहीं मिलता है। जैसे इनके परिणाम रहते हैं, तदनुसार फल पाते हैं।

२. द्रव्यजैन : जो जीव जैनधर्म संबंधी आचार-विचार से सहित हैं, तत्त्वज्ञान से सहित हैं; परन्तु मोह, राग, द्वेष को जिन्होंने रंचमात्र भी नहीं जीता है, सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न नहीं हैं, वे द्रव्यजैन हैं; अथवा भावजैनत्व के निमित्त और सहचारी रूप शरीरादि की क्रियाओं, शुभभावों को द्रव्यजैन कहते हैं।

ये जैन चारों ही गतिओं में होते हैं।

शुभभावरूप द्रव्यजैनत्व का फल पुण्यबंध है तथा शारीरिक क्रियारूप द्रव्यजैनत्व का फल शारीरिक स्वास्थ्य, लोक में इज्जत, यश, मान-प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति है।

३. भावजैन : जो द्रव्यजैन मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों को जीतते हैं, सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न हैं, वे भावजैन हैं। चौथे गुणस्थानवाले और उससे ऊपर के सभी भावजैन हैं।

ये भी चारों गतिओं में होते हैं; परन्तु पूर्णता मात्र मनुष्यगति में ही होती है।

वीतरागतामय होने से भावजैनत्व का फल निर्बंध, निराकुल, अतीन्द्रिय आनन्दमय दशा है। अव्याबाध, सुख-शांतिमय, अशरीरी सिद्धदशा, निर्वाण, मोक्षदशा इसी का फल है।

इस प्रकार मुख्यतया लोक में तीन प्रकार के जैन पाए जाते हैं।

प्रश्न ४ : इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर : संसारी जीव के परपदार्थों को जानने में निमित्त होनेवाले शरीर के चिन्हविशेष को इन्द्रिय कहते हैं; अथवा जो इन्द्र के समान पर से पूर्णतया निरपेक्ष रहकर पूर्ण स्वतंत्रता से मात्र अपना-अपना ही कार्य करती हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं; अथवा इन्द्र=आत्मा। संसारी आत्मा की पहिचान के चिन्ह को इन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ५ : इन्द्रियाँ कितनी और कौन-कौन सी हैं?

उत्तर : इन्द्रियाँ पाँच हैं— स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और कर्णोन्द्रिय/श्रोत्र इन्द्रिय।

प्रश्न ६ : स्पर्शन इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर : जिसके द्वारा स्पर्श किए जाने पर जीव को हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, ठंडा, गर्म इत्यादि स्पर्श का ज्ञान होता है, उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर ही इस इन्द्रियमय है। इस इन्द्रिय के कारण जीव एकेन्द्रिय कहलाता है। स्पर्श को जानता तो जीव ही है, यह इन्द्रिय तो मात्र उसमें निमित्त/माध्यम होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति रूप पाँच स्थावर स्पर्शन इन्द्रियमय एकेन्द्रिय जीव हैं।

प्रश्न ७ : रसना इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर : जिसके द्वारा चखने पर जीव को खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला,

चरपरा आदि रसों का ज्ञान होता है, उसे रसना या जिह्वा इन्द्रिय कहते हैं। मुख में रहनेवाली जीभ ही रसना इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय सदा स्पर्शन इन्द्रिय के साथ ही रहती है, इसकारण इस इन्द्रिय वाले जीव को दो इन्द्रिय जीव कहते हैं। रस को भी जानता तो जीव ही है, जीभ तो मात्र उसमें निमित्त/माध्यम होती है। लट, शंख, सीप, कोंड़ी आदि दो इन्द्रिय जीव हैं।

प्रश्न ८ : घ्राण इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर : जिसके द्वारा सूँघने पर जीव को सुगंध-दुर्गन्ध आदि का, बास का ज्ञान होता है, उसे घ्राण या नासिका इन्द्रिय कहते हैं। अपने चेहरे पर बनी नाक ही घ्राण इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय सदा स्पर्शन और रसना के साथ ही रहती है; अतः इस इन्द्रियवाला जीव तीन इन्द्रिय जीव कहलाता है। गंध को जानता तो जीव ही है, नाक तो मात्र उसमें निमित्त/माध्यम होती है। चींटी, बिच्छु, खटमल, जूँ आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं।

प्रश्न ९ : चक्षु इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर : जिसके द्वारा देखने पर जीव को काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदि रंगों का; गोल, चौकोर आदि आकारों का; रूपों का ज्ञान होता है, उसे चक्षु इन्द्रिय या नेत्र इन्द्रिय कहते हैं। अपने चेहरे पर बनी आँखें ही चक्षु-इन्द्रिय हैं। यह इन्द्रिय सदा प्रथम तीन इन्द्रियों के साथ ही होती है; अतः इस इन्द्रियवाला जीव चार इन्द्रिय जीव कहलाता है। रूप, रंग को भी जानता तो जीव ही है; आँख तो मात्र उसमें निमित्त/माध्यम होती है। मक्खी, मच्छर, भौरा इत्यादि चार इन्द्रिय जीव हैं।

प्रश्न १० : कर्णोन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर : जिसके द्वारा सुनने पर जीव को ध्वनि का, शब्दों का, आवाजों इत्यादि का ज्ञान होता है, उसे कर्णोन्द्रिय या श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं। अपने कान ही कर्णोन्द्रिय हैं। यह इन्द्रिय सदा स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों के साथ ही होती है; अतः इस इन्द्रियवाला जीव पंचेन्द्रिय जीव कहलाता है। ध्वनि आदि को जानता तो जीव ही है, कान तो मात्र उसमें निमित्त/माध्यम हैं। गाय, भैंस, कुत्ता, कबूतर आदि पशु-पक्षी तथा मनुष्य, नारकी, देव पंचेन्द्रिय जीव हैं।

प्रश्न ११ : क्या इन्द्रियाँ वास्तव में जानती हैं? यदि नहीं तो जाननेवाला कौन है?

उत्तर : वास्तव में शरीर के विशेष चिन्ह रूप इन्द्रियाँ, जड़, स्पर्शादिमय

पुद्गल, अचेतन होने से ज्ञान आदि चेतन गुणों से रहित होने के कारण जानती-देखती नहीं हैं; परन्तु जब यह संसारी जीव, पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि को अपने ज्ञान से जानता है; तब ये इन्द्रियाँ उसमें निमित्त होती हैं।

इसप्रकार जाननेवाला तो ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा ही है, इन्द्रियाँ तो आत्मा के साथ होने से तथा छद्मस्थ कमजोर आत्मा को पर पदार्थों की जानकारी में निमित्त होने के कारण उपचार से जानने वाली कही जाती हैं; स्वयं रंचमात्र भी जानती-देखती नहीं हैं।

प्रश्न १२ : इन्द्रियाँ किसे जानने में निमित्त होती हैं?

उत्तर : इन्द्रियाँ एकमात्र पुद्गलस्कंधों को ही जानने में निमित्त होती हैं। इन्द्रियाँ स्वयं पुद्गलमय होने से तथा उनकी वृत्ति परोन्मुखी होने से वे स्वयं को भी नहीं जान पाती हैं। उनके विषय भी अपने-अपने पूर्ण सुनिश्चित हैं। स्पर्शन इन्द्रिय मात्र स्पर्श को ही जानने में निमित्त होती है। इसीप्रकार रसना मात्र रस को, घ्राण मात्र गंध को, चक्षु मात्र रूप-रंग को तथा कर्णमात्र शब्दादि को ही जानने में निमित्त हैं।

इसप्रकार इन्द्रियाँ मात्र स्पर्श, रस, गंध, वर्ण-रूप-रंग, शब्द-ध्वनि आदि को ही जानने में निमित्त होती हैं। आत्मा में ये स्पर्शादि न होने के कारण इन्द्रियाँ आत्मा को जानने में निमित्त भी नहीं होती हैं।

प्रश्न १३ : क्या इन्द्रियाँ मात्र जानने में ही निमित्त होती हैं अथवा इनका कुछ और भी काम है?

उत्तर : इन्द्रियाँ मात्र पुद्गलों को जानने में ही निमित्त नहीं होती हैं; अपितु वे पंचेन्द्रिय विषयों के भोगों में भी निमित्त होती हैं। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के निमित्त से हम स्पर्श के ज्ञान के साथ ही स्पर्श संबंधी अनुकूलता-प्रतिकूलता का भोग/वेदन भी करते हैं। रसना इन्द्रिय के निमित्त से रसों के ज्ञान के साथ ही रसों का भोग भी करते हैं, इसीप्रकार घ्राण इन्द्रिय के निमित्त से सुगन्ध का; चक्षु इन्द्रिय के निमित्त से टी. वी., सिनेमा आदि का तथा कर्णोन्द्रिय से संगीत आदि का भोग करते हैं।

इसप्रकार ये पाँचों इन्द्रियाँ विषय-भोगों में भी निमित्त होती हैं। उनके माध्यम से हम विषय-संबंधी अनुकूलता-प्रतिकूलता का वेदन भी करते हैं।

प्रश्न १४ : इन्द्रियाँ हमारी शत्रु क्यों हैं? उन्हें जीतना आवश्यक क्यों हैं?

उत्तर: इन्द्रियाँ मात्र पुद्गलस्कंधों को ही जानने में निमित्त होती हैं। उन्हें जानने से अपना कल्याण नहीं होता है। अपना कल्याण तो स्वयं को जानकर स्वयं में ही रमने से होता है। अभी आत्मा में एक समय में एक ही पदार्थ को जानने की क्षमता है, जब यह इन्द्रियों के माध्यम से पुद्गलों को जानने में लगता है, तब यह स्वयं को नहीं जान पाता, अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट नहीं कर पाता है।— इस प्रकार स्वयं को जानने में बाधक होने से इन्द्रियाँ हमारी शत्रु हैं।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ हमें पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में भी उलझाती हैं, जो तत्काल तो आकुलतामय, तीव्र दुःखमय हैं ही; पाप बंध के कारण होने से आगामी काल में भी दुःखदायक ही हैं। पंचेन्द्रिय विषय-भोग भोगते हुए आत्मा कभी भी सुखी नहीं हो सकता है, अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता है।— इस प्रकार वे हमारे सुख में बाधक होने से हमारी शत्रु हैं।

यदि हमें सुखी होना है, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना है, तो हमें पर पदार्थों के ज्ञान और पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में उलझाने वाली इन्द्रियों को जीतना होगा; परन्तु इन्द्रियों को जीतने का अर्थ उनकी तोड़-फोड़ करना नहीं है, अपितु उनसे काम लेना बंद कर देना है। जब हम सम्पूर्ण परपदार्थों से दृष्टि हटाकर, त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञानानंद स्वभावी स्वयं को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, अपने उपयोग को उसमें ही स्थिर कर लेते हैं; तब अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनंद प्रगट हो जाता है, सभी इन्द्रियों का काम स्वयमेव बंद हो जाता है, इसे ही 'इन्द्रियों को जीतना' कहते हैं अर्थात् अपने ज्ञान, आनंद के लिए उनकी आवश्यकता ही न रहना; उनका उपयोग किए बिना ही ज्ञान, आनंद प्रगट हो जाना, इन्द्रियों को जीत लेना है।

इन्द्रियों को जीते बिना अर्थात् वहाँ से अपने उपयोग को हटाकर स्वयं में पूर्ण स्थिर हुए बिना कोई भी जीव पूर्ण सुखी नहीं बन सकता है। उसके मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव नष्ट नहीं हो सकते हैं; वह पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान नहीं बन सकता है; अतः सुखी होने के लिए इन्द्रियों को जीतना आवश्यक है।

प्रश्न १५: इन्द्रियज्ञान तुच्छ, हेय क्यों है?

उत्तर: यद्यपि इन्द्रियज्ञान आत्मा का ही परिणामन है, ज्ञान गुण का जानकारी रूप ही परिणामन है; तथापि वह कर्माधीन है; प्रकाश, पदार्थ आदि अन्य

सामग्रियों के भी अधीन है तथा आत्मा को जानने में समर्थ नहीं है; अतः इन्द्रियज्ञान तुच्छ, हेय है। आत्मा अतीन्द्रिय महापदार्थ है; इसमें इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि नहीं होने के कारण इन्द्रियज्ञान इसे जानने में समर्थ नहीं है। आत्मा का हित तो आत्मा को जानने से होता है, आत्मा को जाननेवाला ज्ञान अतीन्द्रियज्ञान ही है, आत्मा अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है, इन्द्रियज्ञान द्वारा नहीं; अतः इन्द्रियज्ञान हेय है।

दूसरी बात यह है कि वास्तव में ज्ञान की एक साथ कोई दो पर्यायें नहीं होती हैं, एक समय में एक ही पर्याय होती है। उपयोगरूप ज्ञान पर्याय जब इन्द्रियों के माध्यम से स्पर्शादि को जानने लगती है तो इन्द्रियज्ञान कहलाती है तथा उपयोगरूप ज्ञानपर्याय ही जब परलक्षी वृत्ति को छोड़कर स्वयं को अपनत्व रूप से जानने लगती है तो अतीन्द्रियज्ञान कहलाती है। परपदार्थों में उलझा उपयोगात्मक ज्ञान स्वयं को जानने में समर्थ न होने से हेय है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार इन्द्रिय-सुख स्वयं आकुलतामय, विभावरूप तथा पाप बंध का कारण होने से हेय है; उसी प्रकार इन्द्रियज्ञान आकुलतामय, पर में उलझाने वाला होने से हेय है, तुच्छ है, छोड़ने-योग्य है। अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख निराकुलतामय, स्वाभाविक परिणामन होने से उपादेय है, प्रगट करने-योग्य है। ○○○

आतमज्ञान लहें सुख होई

पंचेन्द्री सुख मानत भोंदू, यामें सुख को लेश न कोइ ॥आतम ॥
जैसे खाज खुजावत मीठी, पीछैंतें दुखतें दे रोइ।
रुधिरपान करि जोंक सुखी है, सूँतत बहुदुख पावै सोई ॥आतम ॥१॥
फरस-दन्तिरस-मीनगंध-अलि, रूप-शलभमृग-नादहिलोइ।
एक एक इन्द्रनिर्तें प्राणी, दुखिया भये गये तन खोइ ॥आतम ॥२॥
जैसे कूकर हाइ चचोरै, त्यों विषयी नर भोगै भोइ।
'द्यानत' देखो राज त्यागि नृप, वन वसि सहैं परीषह जोइ ॥आतम ॥३॥

आतम अनुभव सार हो, अब जिय सार हो, प्राणी....

विषय भोगफणिते तोहि काट्यो, मोह लहर चढ़ी भार हो ॥आतम ॥१॥
याको मंत्र ज्ञान है भाई, जप तप लहर उतार हो ॥आतम ॥२॥
जनमजरामृत रोग महा ये, तैं दुख सह्यो अपार हो ॥आतम ॥३॥
'द्यानत' अनुभव-औषध पीके, अमर होय भव पार हो ॥आतम ॥४॥

प्रश्न १ : सदाचार किसे कहते हैं? और वह कितने प्रकार का है?

उत्तर : धर्म प्राप्त करने की पात्रता जागृत करनेवाले अथवा धर्मात्मा जीव के पाए जानेवाले समीचीन आचार को सदाचार कहते हैं; अथवा अपने सत् स्वभावी ज्ञानानन्दमयी भगवान आत्मा में प्रवृत्ति के कारणभूत या प्रवृत्ति से प्रगट होनेवाले आचार को सदाचार कहते हैं। वह मुख्यतया दो प्रकार का है – अहिंसामूलक और सभ्यतामूलक।

१. अहिंसामूलक : जिन पदार्थों के सेवन आदि से अनेकानेक त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है, उन पदार्थों के सेवन आदि का तथा सेवन आदि करने के भाव का त्याग करना अहिंसामूलक सदाचार है। जैसे पंचो-दुम्बर फलों, आलू आदि जमीकंदों का त्याग आदि।

२. सभ्यतामूलक : जिन प्रवृत्तियों को सज्जन बुरा मानते हैं, जो प्रवृत्तियाँ स्वास्थ्य के लिए हानि पहुँचाती हैं, सामाजिक परम्पराओं के प्रतिकूल होती हैं; उन प्रवृत्तियों का तथा उनरूप भावों का त्याग सभ्यतामूलक सदाचार है। जैसे बाजार में खड़े-खड़े या चलते-फिरते नहीं खाना, अनुपसेव्य पदार्थ नहीं खाना आदि।

प्रश्न २ : भक्ष्य-अभक्ष्य किसे कहते हैं? अभक्ष्य कितने प्रकार के हैं?

उत्तर : यदि भोजन-पानी ग्रहण किए बिना हमारा काम नहीं चलता हो, हमें तीव्र आकुलता होती हो तो अपनी आकुलता कम करने के लिए जिन पदार्थों के सेवन से जीवों की हिंसा आदि नहीं होती है, ऐसे भक्षण करने-योग्य/सेवन करने-योग्य/खाने-योग्य पदार्थों को भक्ष्य कहते हैं। इनसे विपरीत जो पदार्थ अनेक जीवों की हिंसापरक या स्वास्थ्य को हानिकारक होने से भक्षण/सेवन करने/खाने-योग्य नहीं हैं, उन्हें अभक्ष्य कहते हैं। अ=नहीं; भक्ष्य=भक्षण/खाने-योग्य।

इनके मुख्य पाँच भेद हैं – त्रसघात, बहुघात, अनुपसेव्य, मादक और अनिष्टकारक। त्रसघात, बहुघात और मादक अभक्ष्य-भक्षण मुख्यतया हिंसामूलक असदाचार है। अनुपसेव्य और मादक अभक्ष्य का सेवन मुख्य-

तया असभ्यतामूलक असदाचार है तथा अनिष्टकारक अभक्ष्य-भक्षण भी अस्वास्थ्यकर होने से असभ्यतामूलक असदाचार है।

प्रश्न ३ : त्रसघात अभक्ष्य किसे कहते हैं?

उत्तर : जिन पदार्थों के सेवन से उनमें स्थित त्रस अर्थात् दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों का घात होता है, उन्हें त्रसघात अभक्ष्य कहते हैं। जैसे पंचोदुम्बर फल; जिनागम में वर्णित मर्यादा के बाहर वाले दूध, घी, आटा, मसाले आदि खाद्य, पेय पदार्थ; चलित रसयुक्त पदार्थ आदि। इन पदार्थों में अनेकानेक सूक्ष्म-स्थूल त्रसजीव होते हैं, जो सेवन करने से मर जाते हैं; अतः हिंसा पाप से बचने के लिए कभी भी इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

मधु, माँस, अण्डा आदि का सेवन भी त्रसघात अभक्ष्य सेवन ही है; अतः हिंसादि पापों से बचने के लिए तथा परिणामों की विशुद्धि के लिए इनका भी त्याग करना चाहिए।

प्रश्न ४ : बहुघात अभक्ष्य किसे कहते हैं?

उत्तर : जिन पदार्थों के सेवन से उनमें स्थित अनेकानेक / अनंत स्थावर जीवों का अर्थात् एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक जीवों का घात होता है, उन्हें बहुघात अभक्ष्य कहते हैं। जैसे आलू, प्याज, गाजर, मूली, लहसुन आदि जमीकंद तथा मिट्टी आदि। इनके सेवन से अनंत जीवों का घात होता है तथा ये पदार्थ जमीन के अंदर रहने के कारण इन पर सूर्य की किरणें नहीं पड़ पाने से ये तामसिक वृत्ति वाले होते हैं; जिससे इनका सेवन करने पर शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है; ओला आदि भी इसी कोटि के पदार्थ हैं; अतः हिंसादि पापों से बचने के लिए तथा परिणामों की विशुद्धि के लिए इनका त्याग आवश्यक है।

प्रश्न ५ : अनुपसेव्य अभक्ष्य किसे कहते हैं? उनके सेवन से हिंसा कैसे होती है?

उत्तर : जिन पदार्थों के सेवन को उत्तम पुरुष, सभ्य पुरुष, सुसंस्कृत, धार्मिक व्यक्ति बुरा समझते हैं, उन लोकनिंद्य पदार्थों को अनुपसेव्य अभक्ष्य कहते हैं। जैसे लार, मल-मूत्र आदि। इन पदार्थों का सेवन करने से लोक में निंदा होती है; अतः इन पदार्थों का सेवन तीव्र आसक्ति के बिना संभव नहीं है। तीव्र आसक्ति अपने भावप्राणों की हिंसामयदशा है, धर्म तथा धर्म के प्रसंगों से दूर करनेवाला परिणाम है। 'आत्मघाती महापापी' – यह लोकोक्ति जगत प्रसिद्ध है। – इस प्रकार अनुपसेव्य पदार्थों के सेवन में तीव्र आसक्तिरूप भाव-

हिंसा होती है, जो स्वयं आकुलतामय तथा कर्मबंध की कारण है; अतः आत्मार्षी जीव को अनुपसेव्य अभक्ष्य का पूर्णतया त्याग कर देना चाहिए। अन्+उपसेव्य=अनुपसेव्य। अन्=नहीं; उपसेव्य=सेवन-योग्य।

प्रश्न ६ : मादक अभक्ष्य किसे कहते हैं?

उत्तर : जिन पदार्थों के सेवन से व्यक्ति मदोन्मत्त हो जाता है, हिताहित का विवेक भी नहीं कर पाता है, उन नशाकारक पदार्थों को मादक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे शराब, अफीम, गाँजा, चरस, भाँग, तम्बाखू इत्यादि। ये पदार्थ अनेक जीवों की हिंसा से तो उत्पन्न होते ही हैं, इसके अतिरिक्त इनके सेवन से बुद्धि, विवेक, इज्जत, धन, समय, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य, परिवार, कुटुम्ब, समाज इत्यादि सभी कुछ बर्बाद हो जाने के कारण ये सब अभक्ष्य हैं। सुख के इच्छुक जीव को इस मादक अभक्ष्य का सेवन कभी भी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न ७ : अनिष्टकारक अभक्ष्य किसे कहते हैं? उसके सेवन में हिंसा कैसे है?

उत्तर : जो पदार्थ पूर्णतया शुद्ध, सात्त्विक होने पर भी अपने शरीर के लिए हानिकारक हैं, शारीरिक प्रकृति के विरुद्ध हैं, उन्हें अनिष्टकारक अभक्ष्य कहते हैं। यह अभक्ष्य पूर्णतया व्यक्तिगत होता है, सार्वजनिक नहीं। इसी प्रकार यह तात्कालिक (सीमित समय वाला) भी हो सकता है, सदा के लिए नहीं। जैसे - हाई-ब्लडप्रेसर वाले को नमक, हार्टअटैक के रोगी को घी-तेल आदि।

यद्यपि ये पदार्थ मूलतया शुद्ध हैं; तथापि तत्संबंधी रोगी की शारीरिक प्रकृति के विरुद्ध हैं। विरुद्ध होने पर भी तीव्र आसक्ति वश इनका सेवन करने से शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ता है, जिससे स्वयं को तीव्र आकुलता भोगनी पड़ती है, परिवार-कुटुम्ब को भी आकुलता हो जाती है; पुनः इलाज कराने में समय, शक्ति तथा धन की भी हानि होती है, अन्यान्य अशुद्ध औषधियों का भी सेवन करना पड़ सकता है, अपनी धार्मिक दिनचर्या भी अव्यवस्थित हो जाती है इत्यादि अनेकानेक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इतना सब स्पष्ट समझ में आने पर भी इनका सेवन अति तीव्र आसक्ति, तीव्र स्वाद-लोलुपता के बिना संभव नहीं है। तीव्र आसक्ति, स्वादलोलुपता स्वयं भाव हिंसा, आत्महिंसा है; जो स्वयं आकुलतामय तथा पापबंध का कारण है।

इस प्रकार शुद्ध होते हुए भी अनिष्टकारक पदार्थों के सेवन से हिंसा होती है; अतः आत्मार्षी जीव को प्रकृति के विरुद्ध अनिष्टकारक अभक्ष्य का भी त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न ८ : अभक्ष्य भक्षण/सेवन का त्याग करना क्यों आवश्यक है?

उत्तर : अभक्ष्य-सेवन से अथवा अभक्ष्य-सेवन के भाव से आत्मा का पतन होता है, उसे तीव्र आकुलता भोगनी पड़ती है, तीव्र पाप का भी बंध होता है, सम्यक् रत्नत्रयरूप वास्तविक धर्म प्रगट करने की पात्रता भी उसमें जागृत नहीं हो पाती है; अतः आत्महित करने के इच्छुक जीव को अभक्ष्य-सेवन का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। हमें सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के समागम से अपने परिणामों को इतना पवित्र कर लेना चाहिए कि जिससे उनमें कभी भी अभक्ष्य-सेवन का भाव ही उत्पन्न न हो, तभी हम अपना हित कर सकते हैं।

प्रश्न ९ : अभक्ष्य पदार्थों को कुछ विस्तार से बताइए।

उत्तर : कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इनका कुछ विस्तार किया है। वह इस प्रकार है -

ओला, घोलबड़ा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, संधान।

बड़, पीपल, ऊमर, कटूमर, पाकर फल, जो होए अजान ॥

कन्दमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान।

फल अतितुच्छ, तुषार, चलित रस - ये जिनमत बाईस अखान ॥

ओला, दही बड़ा, रात्रि भोजन, बहुबीजा, बैंगन/भटा, संधान/आचार-मुर्ब्बा; बड़, पीपल, ऊमर, कटूमर, पाकर के फल; अजानफल, कन्दमूल/जमीकंद, मिट्टी, विष, माँस, शहद, मक्खन, शराब पीना, अत्यन्त छोटे और सारहीन फल, ओस, चलित रस/स्वाद बिगड़ेया मर्यादा के बाहर वाले पदार्थ - ये २२ पदार्थ जैनधर्म में अभक्ष्य कहे गए हैं।

अधिक विस्तार के लिए क्रियाकोश आदि श्रावकाचारों का अध्ययन करना चाहिए।

○○○

— **ऐसो नर भाव पाय गँवायो** —

धनकूँ पाय दान नहिं दीनो, चारित चित नहिं लायो।
श्री जिनदेव की सेव न कीनी, मानुष जनम लजायो, जगत में आयो न आयो ॥१॥
विषय कषाय बढे प्रतिदिन दिन, आतम बल सु घटयो।
तजि सतसंग भयो तू कुसंगी, मोक्ष कपाट लगायो, नरक को राज कमायो ॥२॥
रजक श्वान सम फिरत निरंकुश, मानत नाहिं मनायो।
त्रिभुवनपति होय भयो है भिखारी, यह अचरज मोहि आयो, कहंते कनक फल खायो ॥३॥
कंद मूल मद माँस भखन कूँ, नित प्रति चित्त लुभायो।
श्री जिन वचन सुधा सम तजि कै, नयनानंद पछतायो, श्री जिन गुण नहीं गायो ॥४॥

प्रश्न १ : विश्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाति अपेक्षा छह और संख्या अपेक्षा अनंतानंत द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं।

प्रश्न २ : क्या कभी विश्व का नाश हो सकता है ?

उत्तर : विश्व द्रव्यों का समूह होने से और द्रव्य अनादि-अनंत, अकृत्रिम होने से, स्वतःसिद्ध, अविनाशी हैं; उनका नाश कभी भी संभव नहीं है, मात्र उनकी पर्यायें ही बदलती रहती हैं; इसलिए द्रव्य परिवर्तनशील कहे जाते हैं, द्रव्यों के परिवर्तन की अपेक्षा विश्व को भी परिवर्तनशील कहा जाता है; परन्तु द्रव्यों का नाश न होने से विश्व का भी नाश नहीं होता है।

प्रश्न ३ : द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं अथवा जो गुण और पर्याय वाला है, उसे द्रव्य कहते हैं अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सहित सत् द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अनंत-अनंत गुणों का समूह स्वतःसिद्ध है। उन गुणों के माध्यम से उसमें प्रतिसमय कार्य होता रहता है। इस प्रकार स्थायी रहकर सतत परिणामन करनेवाले, कार्य करनेवाले पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। जिसे अपना कार्य करने में दूसरे की सहायता नहीं लेनी पड़ती, उस पर से पूर्ण निरपेक्ष, अनंत-शक्ति सम्पन्न सत्ता को द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न ४ : गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं। द्रव्य के समान ये गुण भी अनादि-अनंत, स्वतःसिद्ध हैं। प्रत्येक द्रव्य में, उसके सभी प्रदेशों में, उसकी सभी दशाओं में अनंतानंत की संख्या में ये गुण द्रव्य के साथ एकमेक होकर रहते हैं अर्थात् पहले द्रव्य और गुण पृथक्-पृथक् रहते हों, बाद में उन दोनों को मिला दिया गया हो—ऐसा नहीं है; वरन् द्रव्य गुणमय है, गुणों का अखंड पिण्ड है; गुण भी द्रव्यमय हैं, द्रव्य से हीनाधिक नहीं हैं; इस प्रकार दोनों में परस्पर नित्य तादात्म्य संबंध है; एक के बिना दूसरा कभी भी नहीं रहता है।

प्रश्न ५ : गुण की परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : गुण की परिभाषा को निम्न दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

१. प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयात्मक है, जिसकी सिद्धि गुण की परिभाषा से होती है। वह इस प्रकार—‘द्रव्य के’—यह पद ‘स्वद्रव्य’ का वाचक है; अर्थात् गुण सदैव अपने-अपने द्रव्य में ही रहते हैं। ‘सम्पूर्ण भागों में’—यह पद ‘स्व क्षेत्र’ का वाचक है; अर्थात् गुण अपने-अपने क्षेत्र में ही रहते हैं। उसकी ‘सम्पूर्ण अवस्थाओं में’—यह पद ‘स्वकाल’ का वाचक है अर्थात् गुण अपने-अपने द्रव्य की सम्पूर्ण पर्यायों में, उसके अनादि-अनंत सम्पूर्ण काल में पाए जाते हैं। ‘जो रहते हैं, वे गुण हैं’—यह पद ‘स्वभाव’ का वाचक है; अर्थात् वे रहनेवाले गुण उस द्रव्य की अपनी विशेषताएँ हैं, वे उसकी शक्तिओं हैं; सम्पत्ति हैं।—इस प्रकार गुण की परिभाषा वस्तु की स्वचतुष्टयात्मक सत्ता सिद्ध करती है।

२. वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले सर्व, सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा—ये चार शब्द प्रसिद्ध हैं, ये भी इस गुण की परिभाषा से स्पष्ट होते हैं। वह इस प्रकार—‘द्रव्य के’—यह पद ‘सर्व’ का वाचक है; अर्थात् गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं। ‘सम्पूर्ण भागों में’ यह पद ‘सर्वत्र’ का वाचक है; अर्थात् गुण द्रव्य में सभी जगह, उसके सभी प्रदेशों में रहते हैं। ‘सम्पूर्ण अवस्थाओं में’—यह पद ‘सर्वथा’ का वाचक है; अर्थात् गुण सदा रहते हैं। ‘जो रहते हैं, वे गुण हैं’—यह पद ‘सर्वदा’ का वाचक है, सर्वदा=सब कुछ देनेवाला। गुणों में से ही पर्यायें प्रगट होने के कारण गुण सर्वदा कहलाते हैं।—इस प्रकार गुण की परिभाषा से सर्व, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदामय वस्तु का स्वरूप स्पष्ट होता है।

प्रश्न ६ : गुण के पर्यायवाची शब्द क्या-क्या हैं?

उत्तर : गुण, शक्ति, स्वभाव, धर्म, वैभव, संपत्ति, बल, ताकत, ऐश्वर्य, अन्वय के विशेषण इत्यादि गुण के पर्यायवाची शब्द हैं।

प्रश्न ७ : विश्व और द्रव्य—इन दोनों की परिभाषाओं में ‘समूह’ शब्द है; तो क्या दोनों ही ‘समूह’ शब्द एकार्थवाचक हैं? या पृथक् अर्थवाचक हैं।

उत्तर : विश्व और द्रव्य दोनों की परिभाषाओं में आया हुआ ‘समूह’ शब्द पृथक्-पृथक् अर्थ का वाचक है। विश्व की परिभाषावाला समूह शब्द मात्र उनके एक स्थान पर, एक साथ रहने को बताता है; परन्तु उनका परस्पर में

कुछ लेना-देना नहीं है। वे सभी एक-दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष हैं। जैसे एक कमरे में अनेकों बल्बों का प्रकाश एक दूसरे में प्रविष्ट होकर रहता है; परन्तु एक दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष है। एक बल्ब बुझा देने से मात्र उसका ही प्रकाश नष्ट होता है; अन्य का नहीं। इसी प्रकार परस्पर पूर्ण निरपेक्ष, स्वतंत्र-स्वाधीन रूप से सभी द्रव्य एक साथ विश्व में रहते हैं— यह विश्व की परिभाषा में आए 'समूह' शब्द का अर्थ है।

द्रव्य की परिभाषा में आया 'समूह' शब्द तादात्म्यसंबंध का वाचक है। गुण द्रव्य के साथ एकमेक होकर रहते हैं। जैसे नमक को खारेपन से, खारेपन को नमक से, कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार द्रव्य को गुणों से या गुणों को द्रव्य से कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता है; वे दोनों एक-दूसरे में घुल-मिलकर, एक होकर रहते हैं।

इस प्रकार विश्व की परिभाषावाला 'समूह' एकक्षेत्रावगाह संबंध का तथा द्रव्य की परिभाषावाला 'समूह' तादात्म्यसंबंध का वाचक है अर्थात् दोनों के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं।

प्रश्न ८ : गुण का स्वरूप समझने से हमें क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : गुण का स्वरूप समझने से वैसे तो अनेकों लाभ हैं, पर उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. गुण द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में रहते हैं— यह समझ में आ जाने पर ज्ञान मस्तिष्क में रहता है, श्रद्धा अथवा सुख-दुःख का वेदन हृदय में होता है, आचरण या चारित्र्य पैरों से होता है इत्यादि मान्यताएँ नष्ट हो जाती हैं। इन गुणों के विकास के लिए, इनसे संबंधित एक-एक अंग को पुष्ट करने के लिए किए जानेवाले निरर्थक प्रयास नष्ट हो जाते हैं तथा अनंत गुणों के अखण्ड पिण्ड निज ध्रुव तत्त्व में स्थिर रहने का भाव जागृत होता है, इसमें स्थिरता से सभी गुण विकसित हो जाते हैं।

२. गुण द्रव्य की सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं अर्थात् अत्यंत हीन, कम-जोर अवस्था में भी सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं।— यह समझ में आ जाने पर उन अवस्थाओं से दृष्टि हटाकर, सदा विद्यमान अनंत सामर्थ्य सम्पन्न, अनंत गुणों के अखण्ड पिण्ड ज्ञानानन्द स्वभावी निज तत्त्व में दृष्टि स्थिर करने का भाव जागृत होता है; इसमें स्थिरता से पर्यायों की हीनता, कमजोरी भी नष्ट होकर पर्यायें अनंत सामर्थ्य सम्पन्न हो जाती हैं।

३. गुणों का एक नाम सर्वदा भी है। सर्वदा=सब कुछ देनेवाला। यह ज्ञात हो जाने पर अपना सब कुछ प्राप्त करने के लिए पर पदार्थों का आश्रय छोड़कर दृष्टि जब अपने स्वभाव में स्थिर होती है, तो पर्यायों में अपना सम्पूर्ण वैभव व्यक्त हो जाता है।

४. गुण सभी द्रव्यों में समान हैं, किसी में भी कम या अधिक नहीं हैं। यह समझ में आ जाने पर दीनता, हीनता, पामरता, घमण्ड आदि सभी विकारी भाव नष्ट होकर सहज समताभाव प्रगट हो जाता है।

५. सभी द्रव्य अपने-अपने भागों में ही रहते हैं अर्थात् प्रत्येक का अपना-अपना क्षेत्र सुनिश्चित है, वे उसमें रहकर ही अपना काम करते हैं। किसी दूसरे में दूसरे द्वारा कुछ भी किया जाना संभव नहीं है।— यह समझ में आ जाने पर हम अन्य किसी का भला-बुरा कर सकते हैं या अन्य कोई हमारा भला-बुरा कर सकता है इत्यादि विपरीत मान्यता से उत्पन्न होनेवाले करने-धरने के भाव, पराधीनता, भय, चिंता आदि विकारी-भाव नष्ट हो जाते हैं तथा जीवन में स्वतंत्रता, स्वावलम्बन, निर्भयता, निश्चिंतता प्रगट होती है। अपने में ही रहकर अपना काम करने की स्वयं जिम्मेदारी, जवाबदारी समझ में आती है; जिससे स्वोन्मुखी पुरुषार्थ प्रगट होकर स्वरूपस्थिरता हो जाती है, फलस्वरूप जीवन सहज निराकुल आनंदमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ गुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ९ : पर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर : द्रव्य में रहनेवाले गुणों के प्रतिसमय होनेवाले परिवर्तन को/परिणामन को/कार्य को, पर्याय कहते हैं। पर्याय सदैव एक-एक समयवर्ती होती है अर्थात् द्रव्य में प्रतिसमय नवीन-नवीन कार्य होता रहता है; बदलते रहना उस कार्य का मूल स्वभाव है। गुणों के वैभव की व्यक्तता इससे ही होती है।

प्रश्न १० : पर्याय के पर्यायवाची शब्द कौन-कौन से हैं?

उत्तर : अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणामन, परिणति, कार्य, क्रिया, क्रमवर्ती, व्यतिरेकी, क्षणिक, विनाशीक, कादाचित्क, मेहमान, परिचायिका इत्यादि अनेकों पर्याय के पर्यायवाची शब्द हैं।

प्रश्न ११ : पर्याय का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : वैसे तो पर्याय का स्वरूप समझने से अनेकों लाभ हैं; परन्तु उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. गुणों के कार्य को पर्याय कहते हैं। प्रत्येक गुण क्रियाशील है। उसमें निरन्तर अपनी-अपनी योग्यतानुसार सुव्यवस्थित कार्य होता रहता है। यह समझ में आ जाने पर कार्य संबंधी चिंताएँ, बोझ नष्ट होकर जीवन सहज निश्चित, निर्भार, आनंदमय हो जाता है।

२. प्रतिसमय बदलनेवाली दशाओं को पर्याय कहते हैं, कोई भी दशा कभी भी एक समय से अधिक नहीं रहती है, एक समय मात्र ही उसका जीवन है।—यह समझ में आ जाने पर, किसी पर्याय को अच्छा मानकर उसे स्थायी रखने का भाव अथवा किसी पर्याय को बुरा मानकर उसे शीघ्र नष्ट करने का भाव इत्यादि राग-द्वेष रूप भाव नष्ट होकर पर्यायमात्र के प्रति साम्यभाव प्रगट हो जाता है।

३. प्रत्येक द्रव्य के गुण अपने-अपने में निरन्तर कार्य करते रहते हैं, उसमें किसी अन्य के हस्तक्षेप को तनिक भी अवकाश नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर किसी का अच्छा-बुरा करने का भाव नष्ट हो जाता है; कोई मेरा अच्छा-बुरा कर देगा, ऐसी चिंता या भय भी नष्ट हो जाता है; जिससे तत्संबंधी राग-द्वेष नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

४. पर्याय एक समयवर्ती होने से वह कभी भी स्थायी नहीं हो सकती है। शरण स्थायी वस्तु दे सकती है, पर्याय अस्थायी होने से हमें शरण देने में समर्थ नहीं है। यह समझ में आ जाने पर पर्यायमात्र से दृष्टि हटकर दृष्टि स्थायी स्वभाव पर केन्द्रित होती है। उसमें स्थिरता के बल पर पर्याय परंपरा की अपेक्षा सादि-अनंतकाल के लिए स्थायी हो जाती है, जीवन स्थायी आनंदमय हो जाता है।

५. पर्याय का एक नाम मेहमान है। मेहमान आने-जानेवाले होने से उनके आश्रय से लौकिक जीवन भी सुखमय नहीं हो पाता है। पर्याय भी आने-जानेवाली होने के कारण उनके आश्रय से जीवन सुखमय नहीं बन सकता है।—यह समझ में आ जाने पर पर्यायमात्र से दृष्टि हटकर दृष्टि ध्रुव-स्वभाव पर केन्द्रित हो जाती है, जिससे जीवन सहज सुखमय हो जाता है।

६. वास्तव में गुणों का अखण्ड पिण्ड द्रव्य स्वयं में सामान्य-विशेषात्मक होने से अपने आपमें परिपूर्ण है; पर्याय उसमें कुछ करती नहीं है, मात्र उसका परिचय देती है; इसीलिए उसका एक नाम परिचायिका है।—यह समझ में आ जाने पर पर्यायमात्र से दृष्टि हटकर दृष्टि ध्रुव ज्ञानानंद स्वभावी तत्त्व पर

स्थिर हो जाती है; जिससे पर्याय में सम्पूर्ण वैभव प्रगट होकर जीवन सहज ज्ञानानंदमय हो जाता है।

७. पर्याय का एक नाम क्रमवर्ती है। वे अनादि-अनंत अत्यंत सुव्यव-स्थित क्रम में सदा प्रवाही हैं। उनके परिणामन-क्रम को कभी भी, कोई भी, किसी भी कीमत पर भी बदल नहीं सकता।—यह समझ में आ जाने पर अपनी इच्छानुसार बदलने की चिंता नष्ट होकर, उनके परिणामन को सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है; जिससे पर्यायमात्र से दृष्टि हटकर दृष्टि ध्रुव स्वभाव पर केन्द्रित हो जाती है; जीवन सहज सुख-शांतिमय हो जाता है।

८. पर्यायें व्यतिरेक स्वभावी होने के कारण वे परस्पर में पूर्ण स्वतंत्र स्वा-धीन, पर से पूर्ण निरपेक्ष होती हैं।—यह समझ में आ जाने से पर्यायदृष्टि नष्ट होकर ध्रुवदृष्टि होने पर जीवन अतीन्द्रिय आनंदमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ पर्याय का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १२ : गुण कितने व कितने प्रकार के हैं?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्य में अनंतानंत गुण हैं। जीव अनंत हैं, उनसे अनंतगुणे पुद्गल हैं, पुद्गलों से अनंतगुणे कालद्रव्य के समय हैं, उनसे अनंतगुणे आकाशद्रव्य के प्रदेश हैं, उनसे अनंतगुणे प्रत्येक द्रव्य में रहने वाले गुण हैं; अर्थात् उन्हें गिनना या कहना संभव नहीं है। उन्हें दो प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं—सामान्यगुण और विशेषगुण।

प्रश्न १३ : सामान्यगुण किसे कहते हैं और उनका क्या कार्य है?

उत्तर : जो गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। गुण तो सदा अपने-अपने द्रव्य में ही रहते हैं; परन्तु उनमें से ही कुछ गुण ऐसे हैं कि उनका जो नाम, काम या स्वभाव है; उन्हीं नाम, काम या स्वभाववाले गुण अपने-अपने प्रत्येक द्रव्य में भी पाए जाते हैं। इस प्रकार कुछ गुण सभी द्रव्यों में एकसमान पाए जाने के कारण सामान्यगुण कहलाते हैं। संख्या-अपेक्षया ये गुण प्रत्येक द्रव्य में अनंत होते हैं।

सामान्य गुणों के माध्यम से वस्तु का वस्तुत्व सिद्ध होता है। जगत में अनंतानंत वस्तुएँ हैं; इसकी सिद्धि सामान्यगुणों के माध्यम से होती है। शास्त्रीय भाषा में इसे महासत्ता या सामान्यसत्ता कहते हैं। पूर्णतया पर से निरपेक्ष रहते हुए सम्पूर्ण पदार्थ जगत में अपनी-अपनी सीमा में रहकर

अपना-अपना कार्य करते हुए एक साथ निर्विरोधरूप से विद्यमान हैं— यह कथन सामान्यगुणों के आधार पर किया जाता है।

प्रश्न १४ : सामान्यगुण का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : सामान्यगुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होनेवाले लाभों में से कुछ मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं—

१. इन गुणों के कारण सभी वस्तुएँ समान हैं।— यह समझ में आ जाने पर दीनता, हीनता, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े आदि रूप दीन-हीन वृत्तिआँ नष्ट होकर जीवन सहज समतारूप समानतामय हो जाता है।

२. इसी आधार पर करने-धरने रूप खोटी वृत्तिआँ नष्ट होकर जीवन सहज निराकुल, ज्ञाता-दृष्टामय हो जाता है।

३. इन गुणों के कारण पर से पूर्ण निरपेक्ष, पृथक्-पृथक् अनंत सामर्थ्य सम्पन्न अनंतानंत सत्ताएँ सिद्ध होती हैं। सभी को इस एक विश्व में ही रहना है।— यह समझ में आ जाने पर एक-दूसरे की सत्ता में हस्तक्षेप किए बिना सह-अस्तित्व और सहिष्णुता की भावनापूर्वक अपनी सीमा में ही रहने का भाव जागृत होता है, जिससे जीवन सहज सुख-शांतिमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ सामान्य गुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १५ : विशेषगुण किसे कहते हैं? और उनका क्या कार्य है?

उत्तर : जो गुण सभी द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने द्रव्य में ही रहते हैं, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। वैसे तो सभी गुण अपने-अपने द्रव्य में ही रहते हैं; परन्तु उनमें से ही कुछ गुण ऐसे हैं कि उनका जो नाम, काम या स्वभाव है; उन्हीं नाम, काम, स्वभाववाले गुण भिन्न जातिवाले द्रव्यों में नहीं पाए जाते हैं; मात्र किसी एक जाति के द्रव्य में ही पाए जाते हैं। इस प्रकार वे गुण सभी में न पाए जाने के कारण विशेषगुण कहलाते हैं। संख्या अपेक्षया ये गुण भी प्रत्येक द्रव्य में अनंत होते हैं।

विशेषगुणों के माध्यम से वस्तु का पृथक्त्व सिद्ध होता है। विश्व में जाति अपेक्षा से छह द्रव्य हैं, इसकी सिद्धि विशेषगुणों के माध्यम से होती है। शास्त्रीय भाषा में इसे अवान्तर सत्ता या विशेष सत्ता कहते हैं। पर पदार्थों से भेदज्ञान के कारणभूत ये ही गुण हैं।

प्रश्न १६ : विशेषगुणों का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : विशेषगुणों का स्वरूप समझने से प्राप्त होनेवाले लाभों में से कुछ लाभ निम्नलिखित हैं—

१. इन गुणों के कारण सभी वस्तुएँ विशेष/विशिष्टता सहित हैं। यदि जीव चेतनता के कारण चिदेश्वर है तो पुद्गलादि भी जड़ता के कारण जड़ेश्वर हैं। सभी ऐश्वर्यवान हैं।— यह समझ में आ जाने पर दीनता, हीनता, घमंड आदि दुष्प्रवृत्तिआँ नष्ट होकर जीवन सहज अनंत गरिमावंत, समतामय हो जाता है।

२. जब सभी अनंत विशेषताओं सहित हैं, तो परस्पर में करने-धरने का, लेने-देने का व्यवहार कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता है।— यह समझ में आ जाने पर सर्व परमुखापेक्षी वृत्तिआँ नष्ट होकर जीवन सहज निराकुल ज्ञाता-दृष्टामय हो जाता है।

३. एक ही विश्व में एक साथ रहने के कारण सभी वस्तुएँ परस्पर में एक-मेक मिली हुई दिखाई देती हैं; परन्तु इन विशेषगुणों के कारण वे कभी किसी से मिल नहीं सकती हैं; इस प्रकार लक्षण-भेद से भेदविज्ञान के बल पर अपनी वस्तु ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को सबसे पृथक् जानकर, पहिचानकर, जब इसमें लीनता होती है, तो जीवन सहज सम्यक्-रत्नत्रय सम्पन्न अतीन्द्रिय आनंदमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ विशेष गुणों का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १७ : जबकि सामान्यगुण अनंत हैं तथा सभी एक समान अनंत सामर्थ्य सम्पन्न हैं; तब फिर अस्तित्व आदि छह गुणों को ही तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि इस क्रम से ही क्यों बताया जाता है?

उत्तर : सामान्यगुण अनंत होने पर भी तथा सभी गुण एक समान होने पर भी अनंतों को कहना, समझना, समझाना, शक्य न होने से एक विशिष्ट प्रयोजन को मुख्यकर अस्तित्व आदि छह गुणों को प्रस्तुत क्रम से कहा जाता है। वह विशिष्ट प्रयोजन निम्नलिखित है—

जब हमें कोई व्यक्ति किसी पदार्थ के संबंध में समझाना चाहता है, तब हमारा सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि वह पदार्थ है भी कि नहीं। यदि वह पदार्थ वास्तविक न हो तो हवाई महल जैसी या शेखचिल्ली के सपनों जैसी बातों में उलझने के लिए हमारे पास समय नहीं है; इस शंका के समाधान—

हेतु आचार्यदेव ने सर्वप्रथम अस्तित्व गुण बताया है। वे कहते हैं कि हम तुम्हें जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें एक ऐसा गुण विद्यमान है, जिससे उसकी सत्ता अनादि-अनंत शाश्वत रहती है। इसके कारण पदार्थ वास्तविक वस्तु है, काल्पनिक नहीं।

इस पर से हमारी शंका यह होती है कि ठीक है, वह पदार्थ वास्तविक सही; परन्तु जगत में ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं, जो वास्तविक होने पर भी व्यर्थ होते हैं; यदि आपके द्वारा बताया जाने वाला पदार्थ भी ऐसा ही व्यर्थ हुआ तो उसे समझने के लिए हमारे पास समय नहीं है; इस शंका के समाधान-हेतु आचार्यदेव ने वस्तुत्व गुण बताया है। वे कहते हैं कि हम तुम्हें जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें वस्तुत्व नामक एक ऐसा गुण विद्यमान है, जिसके कारण पदार्थ कभी व्यर्थ होता ही नहीं है। वह सदा अपने लिए पूर्ण सार्थक, प्रयोजनभूत कार्य ही करता है, वह कभी निरर्थक, बेकार नहीं होता है।

इस पर हमारा प्रश्न यह होता है कि हमें तो नित्य नया-नया चाहिए, पुरानी वस्तु हमें पसंद नहीं आती है—इसके उत्तर में आचार्यदेव ने द्रव्यत्वगुण बताया है। वे कहते हैं कि हम जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें एक द्रव्यत्व नामक ऐसा गुण विद्यमान है, जिसके कारण उसमें प्रतिसमय नया-नया कार्य ही होता रहता है, पुरानेपन के लिए उसमें कहीं अवकाश ही नहीं है। इस गुण के कारण कोई भी कार्य एक समय भी पुराना नहीं होता है।

इस पर हमारी शंका यह होती है कि यह सब तो ठीक है; परन्तु हमारे पास अधिक समय, शक्ति या बुद्धि नहीं है। आपके द्वारा समझाया जाने वाला पदार्थ यदि हमारी समझ में नहीं आया तो; इसके समाधान में आचार्यदेव ने प्रमेयत्व गुण बताया है। वे कहते हैं कि हम जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें एक प्रमेयत्व नामक गुण विद्यमान है, यदि हम उसे समझने के लिए थोड़ा सा भी पुरुषार्थ करेंगे तो वह अवश्य ही समझ में आ जाएगा।

इस पर हमारी शंका यह होती है कि पदार्थ में इतनी विशेषताएँ होने के कारण हम उसे समझने को तैयार हैं; परन्तु ये विशेषताएँ बाद में नष्ट हो गईं तो; इसके समाधान में आचार्यदेव ने अगुरुलघुत्व गुण को बताया है। वे कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में अगुरुलघुत्व नामक एक ऐसा गुण विद्यमान है, जिससे पदार्थ जैसा है; सदा वैसा ही बना रहता है; उसका वैभव रंचमात्र हीनाधिक नहीं होता है।

तब फिर हमारी शंका यह होती है कि भले ही पदार्थ स्वयं से नष्ट-भ्रष्ट न हो, पर हमारे शत्रु कोई कम थोड़े ही हैं। यदि उन्होंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया तो; इसके समाधान में आचार्यदेव ने प्रदेशत्व गुण बताया है। वे कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में प्रदेशत्व नामक एक ऐसा गुण विद्यमान है, जिसके कारण किसी दूसरे का उसमें प्रवेश ही सम्भव नहीं है। उसमें प्रवेश किए बिना वह पदार्थ को नष्ट कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता है।

उपर्युक्त छह विशेषताओं को समझ लेने पर हम पदार्थ को समझने के लिए तैयार हो जाते हैं; अतः आचार्यों ने इनसे अधिक गुण बताकर हमें व्यर्थ में उनमें उलझाने का निरर्थक श्रम नहीं किया। किसी नए पदार्थ के संबंध में प्रायः इसी क्रम से हमारे अंदर शंकाएँ उत्पन्न होती हैं; अतः आचार्यदेव ने उनके समाधानरूप में प्रस्तुत गुणों का इसी क्रम से वर्णन किया है।

इस प्रकार सामान्यगुण अनंत होने पर भी एक विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए इन छह गुणों का ही तथा इस क्रम से ही वर्णन किया गया है।

प्रश्न १८ : अस्तित्वगुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है, वह किसी से उत्पन्न भी नहीं होता है, उस शक्ति को अस्तित्वगुण कहते हैं। यह प्रत्येक द्रव्य में अपना-अपना पाया जाने वाला एक सामान्यगुण है। इस गुण के कारण प्रत्येक वस्तु शाश्वत स्वयंसिद्ध सत्तावान है, इसे बनाने-बिगाड़ने वाला कोई नहीं है, यह अनादि-अनंत, अकृत्रिम है। अस्ति और त्व-इन दो शब्दों से मिलकर अस्तित्व बनता है। अस्ति=है/विद्यमान/मौजूद। त्व=पना; अर्थात् जिस गुण के कारण वस्तु का होनापना/उसकी विद्यमानता/मौजूदगी/हैया-ती है, वह अस्तित्वगुण है।

प्रश्न १९ : अस्तित्वगुण का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : अस्तित्व गुण का स्वरूप समझने से अनेकों लाभ हैं, उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. हमारी सत्ता स्वयं हमारे अस्तित्व गुण से है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता है।—यह समझ में आ जाने पर इहलोक भय, परलोक भय, अगुप्ति भय, अरक्षा भय, अकस्मात् भय, वेदना भय, मरण भय—ये सात भय आदि अनेक भय नष्ट होकर जीवन सहज निश्चिंत, निर्भय, सुखी हो जाता है।

२. अन्य द्रव्यों की सत्ता भी उनके अपने अस्तित्व गुण के कारण है, हमारे कारण नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर उनके प्रति बन गए सहज उपकारों के बदले में अपनी सेवा आदि कराने संबंधी अपेक्षा भाव नष्ट होकर सहज साम्यभाव प्रगट होता है।

३. इस गुण के कारण वास्तव में तो हम अनादि-अनंत, जन्म-मरण से रहित, अजर-अमर तत्त्व हैं। माता-पिता मात्र इस शरीर की उत्पत्ति में निमित्त होते हैं, हमारी उत्पत्ति में नहीं।—यह समझ में आ जाने पर दुर्भाग्य वश होने वाली माता-पिता की दुष्प्रवृत्तियों को पुष्ट करने का भाव नष्ट हो जाता है तथा सहज ज्ञाता-दृष्टा भाव प्रगट हो जाता है।

४. कभी किसी व्यक्ति के माध्यम से घटित दुर्घटना में अन्य किसी की मृत्यु आदि हो जाने पर, प्रायः अन्य व्यक्ति दीर्घकाल तक उससे राग-द्वेष करते रहते हैं। अस्तित्व गुण समझ में आ जाने पर यह ज्ञात होता है कि द्रव्य तो कभी नष्ट ही नहीं होता है, मात्र उसकी अवस्थाएँ बदलती हैं।—इस जानकारी के बल पर निरर्थक राग-द्वेष का अभाव होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

५. यह गुण समझ में आ जाने पर शरीर की सुरक्षा आदि के लिए होने वाले अभक्ष्य-भक्षण आदि के भाव तथा हिंसा आदि के भाव भी नष्ट होकर जीवन सहज शुद्ध, सात्त्विक हो जाता है।

६. मेरा अस्तित्व मेरे से है, पर से नहीं।—यह समझ में आ जाने पर टी. वी., वी. सी. आर., कार, बंगला, इज्जत आदि बाह्य पदार्थों से अपना अस्तित्व मानने रूप विपरीत मान्यता नष्ट हो जाती है। जिससे उनके होने पर होनेवाले घमंड आदि के भाव तथा न होने पर होनेवाले दीनता, हीनता आदि के भाव भी नष्ट होकर सहज समता भाव जागृत हो जाता है।

७. सभी सत्ताएँ अर्थात् विश्व में रहनेवाले सभी पदार्थ समान हैं, कोई भी हीनाधिक या छोटा-बड़ा नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर उस संबंधी राग-द्वेष आदि विकारी भाव नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ अस्तित्व गुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २० : वस्तुत्व गुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व विद्यमान है, प्रयोजन-भूत क्रिया होती रहती है, उस शक्ति को वस्तुत्व गुण कहते हैं। अर्थ=प्रयोजन,

क्रिया=कार्य, कारि=करनेवाला, त्व=भाव/पना अर्थात् प्रयोजनभूत/सार्थक कार्य करने की शक्ति। इस शक्ति के कारण प्रत्येक पदार्थ स्वयं के लिए सार्थक कार्य ही करता है, निरर्थक कार्य कभी भी नहीं करता है; प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना प्रयोजन ही सतत सिद्ध करता रहता है।

प्रश्न २१ : वस्तुत्व गुण का स्वरूप समझने से हमें क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : वस्तुत्व गुण का स्वरूप समझने से हमें अनेकों लाभ हैं; उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. प्रत्येक वस्तु में वस्तुत्व गुण होने से वह स्वयं के लिए पूर्णतया सार्थक है; उसमें जो भी कार्य हो रहा है, वह भी उसके लिए पूर्णतया सार्थक है। हमें जो वह अच्छी-बुरी लगती है, वह हमारे निरर्थक अज्ञानजन्य राग-द्वेष का परिणाम है।—यह समझ में आ जाने पर हम निरर्थक मोह, राग, द्वेष रूप महा भयंकर आंतरिक पर्यावरण-प्रदूषण से बच जाते हैं।

२. इसी आधार पर जगत के अन्य जड़-चेतन पदार्थों को व्यर्थ नष्ट करने का भाव भी नष्ट हो जाता है, जिससे बाह्य पर्यावरण-प्रदूषण भी नहीं बढ़ पाता है। विश्व-व्यापी पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या वस्तुत्व गुण का स्वरूप समझने से ही समाप्त हो सकती है।

३. इस गुण के कारण प्रत्येक पदार्थ वस्तु कहलाता है। जिसमें अनंत-अनंत गुण बसते हैं/रहते हैं, उसे वस्तु कहते हैं। हम भी एक वस्तु होने से हममें भी अनंत-अनंत गुण हैं। यह समझ में आ जाने पर दीनता, हीनता, पराधीनता, गुलामी, परमुखापेक्षिता इत्यादि भाव नष्ट होकर स्वतंत्रता, स्वावलम्बन का भाव जागृत होता है।

४. अपनी-अपनी योग्यतानुसार होनेवाला प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक कार्य भी अपने आपमें पूर्ण सार्थक है।—यह समझ में आ जाने पर किसी का तिर-स्कार आदि करने का भाव या स्वयं घमंड आदि करने का भाव नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

५. इसी के आधार पर अपने में होनेवाली सम्पूर्ण विकारी-अविकारी पर्यायों से दृष्टि हटकर, दृष्टि ध्रुव में स्थिर होती है, जिससे जीवन सहज आनन्दमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ वस्तुत्व गुण का स्वरूप समझने से प्रगट होते हैं।

प्रश्न २२ : द्रव्यत्व गुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्थाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। द्रव्य=बहना/परिणमन करना/बदलना; त्व=भाव/पना; अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय नई-नई पर्यायें होते रहना। इस गुण के कारण कोई भी पर्याय एक समय से अधिक पर्याय रूप में नहीं रह पाती है। वस्तु में नित्य नया परिवर्तन होना, इस गुण का कार्य है।

प्रश्न २३ : द्रव्यत्व गुण का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : द्रव्यत्व गुण का स्वरूप समझने से अनेकों लाभ हैं। उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. इस गुण के कारण प्रत्येक वस्तु में नित्य नया-नया कार्य हो रहा है, उसे उसमें अन्य किसी की रंचमात्र अपेक्षा नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर अपने में या पर में कुछ करने-धरने का भाव नष्ट हो जाता है तथा सहज ज्ञाता-दृष्टा भाव प्रगट हो जाता है।

२. इस गुण के कारण पर्यायें प्रतिसमय बदलती रहती हैं, उन्हें स्थायी बनाना संभव नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर पर्याय का आकर्षण नष्ट होकर अपना उपयोग ध्रुवस्वभाव में केन्द्रित होता है, जिससे जीवन निराकुल आनन्दमय हो जाता है।

३. क्षणिक पर्याय से किसी का भी परीक्षण करने का भाव नष्ट हो जाता है; जिससे छोटे-बड़े, ऊँच-नीच आदि की भावनाएँ नष्ट हो जाने से तत्संबंधी राग-द्वेष नष्ट होकर जीवन सहज सुख-शांतिमय हो जाता है।

४. इस गुण के कारण द्रव्य निरन्तर परिणमनशील होने से 'द्रव्य कूटस्थ, सर्वथा अपरिणामी है'—इस विपरीत मान्यता का अभाव हो जाता है।

५. 'वस्तु की स्थिति/दशा सदा एक सी नहीं रहती'—यह समझ में आ जाने पर पर्यायमात्र से दृष्टि हट जाती है, जिससे पर्यायमूढता नष्ट होकर द्रव्य-दृष्टि प्रगट होती है, जो स्वयं सुखमय तथा सुख की कारण है।

इत्यादि अनेकों लाभ द्रव्यत्व गुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २४ : प्रमेयत्व गुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य बनता है, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। प्र=प्रकृष्ट रूप से, मेय=ज्ञेय/जानने-योग्य/जानने में आनेवाले; त्व=भाव/पना। प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्व-

काल, स्वभावरूप स्वचतुष्टयात्मक है; अनंत गुण, पर्यायात्मक है; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है; भूत, वर्तमान, भविष्य—त्रिकालवर्ती लोकालोकस्थित इस प्रकार के सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी ज्ञान के विषय बनते हैं। कितने ही पदार्थों को तो अपनी योग्यतानुसार मतिज्ञान ही जान लेता है। यदि मतिज्ञान न जान सके तो श्रुतज्ञान जान लेता है। यदि वह भी न जान सके तो अवधिज्ञान जान लेता है। वह भी न जान सके तो मनःपर्ययज्ञान जान लेता है। वह भी न जान सके तो केवलज्ञान तो उसे नियम से जान ही लेता है। जगत में वस्तु हो; और केवलज्ञान उसे न जाने—यह कभी संभव ही नहीं है। प्रमेयत्व शक्ति के कारण प्रत्येक पदार्थ केवलज्ञान का विषय तो अवश्य ही बन जाता है। इस-प्रकार 'पदार्थ ज्ञान से छिप न सके'—ऐसी प्रमेयत्व नामक शक्ति प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है।

प्रश्न २५ : प्रमेयत्वगुण का स्वरूप समझने से हमें क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : प्रमेयत्वगुण का स्वरूप समझने से हमें अनेकों लाभ हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१. प्रमेयत्वगुण के कारण प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी, ज्ञान का विषय बनता ही है।—यह समझ में आ जाने पर चोरी-छिपे काम करने के भाव, अन्याय-अनीति-अत्याचार आदि करने के भाव नष्ट होकर जीवन सहज शुद्ध-सात्त्विक हो जाता है।

२. हममें अधिक ज्ञान न होने से हम स्वयं को नहीं जान सकते हैं—यह भ्रांति प्रायः जीव के अंदर चलती रहती है। प्रमेयत्वगुण को समझने से यह ज्ञात होता है कि मुझमें भी प्रमेयत्व गुण है, जिसके कारण यदि हमने स्वयं को जानने का सच्चा पुरुषार्थ किया तो हमें अपनी जानकारी अवश्य ही हो सकती है।

३. प्रत्येक वस्तु किसी न किसी ज्ञान की विषय बनती ही है। अनंतानंत पदार्थों को जाननेवाला अनंत सामर्थ्यसम्पन्न कोई न कोई ज्ञान अवश्य होना चाहिए; इससे पूर्ण विकसित केवलज्ञान, सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। इसके बल पर केवली भगवान का सही स्वरूप समझ में आ जाने से उन जैसे अपने भाव की महिमा, पर्यायों की क्रमबद्धता, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप आदि विषयों के निर्णय करने की ओर हम प्रयत्नशील होते हैं।

४. इस गुण के आधार पर अपने सर्वज्ञस्वभाव की जानकारी हो जाने से अल्प विकसित मतिज्ञान आदि पर्यायों के प्रति उपेक्षाभाव जागृत होता है;

जिससे तत्संबंधी दीनता, हीनता, घमंड आदि भाव नष्ट होकर जीवन में सहज समताभाव प्रगट हो जाता है।

५. प्रमेयत्व गुण सामान्य गुण होने से सभी द्रव्यों में विद्यमान होने के कारण परद्रव्यों के साथ हमारा मात्र सहज ज्ञान-ज्ञेय/ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; अन्य कोई कर्ता-कर्म संबंध या भोक्ता-भोग्य संबंध आदि संबंध नहीं है। - यह समझ में आ जाने पर तत्संबंधी विपरीत मान्यताएँ नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

६. ज्ञेय-ज्ञायक संबंध सहज बनता है। प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाता है। ज्ञान भी अपनी मर्यादा में रहकर उन्हें सहज जान लेता है। यह प्रक्रिया अत्यंत स्वाभाविक रूप से घटित हो जाती है, इसमें कृत्रिमता के लिए रंचमात्र अवकाश नहीं है। - यह समझ में आ जाने पर दृष्टिज्ञेय-ज्ञायक संबंध से भी हटकर स्वभावसन्मुख होती है, जिसमें स्थिरता से अतीन्द्रिय आनन्दमयी, वीतरागी, सर्वज्ञदशा प्रगट हो जाती है।

७. इसी बल पर विशिष्ट क्षयोपशमज्ञान की ओर आकर्षित होने का भाव नष्ट हो जाता है, जिससे अज्ञानता-जन्य विविध गृहीत मिथ्यात्वों से बचकर जीवन पक्षपात रहित, पवित्र हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ प्रमेयत्व गुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २६ : अगुरुलघुत्व गुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिस शक्ति के कारण द्रव्य का द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता है तथा द्रव्य में रहनेवाले अनंत गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते हैं, उस शक्ति को अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। अ=नहीं, गुरु=बड़ा, लघु=छोटा; अर्थात् जिसके कारण द्रव्य दूसरे के साथ मिलकर बड़ा नहीं होता है तथा गुण आदि के बिखर जाने पर छोटा नहीं होता है; यथावत एक रूप ही बना रहता है, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

प्रश्न २७ : मुख्यरूप से जिनवाणी में अगुरुलघु शब्द कहाँ-कहाँ और किन-किन अर्थों में आया है?

उत्तर : मुख्यरूप से जिनवाणी में अगुरुलघु शब्द चार स्थानों पर आया है-

१. छह सामान्य गुणों के अन्तर्गत प्रस्तुत पाँचवाँ अगुरुलघुत्व गुण।

२. समयसार परिशिष्ट में समागत सैंतालीस शक्तिओं में से सत्रहवीं अगुरुलघुत्वशक्ति।

३. आठ कर्मों में से गोत्रकर्म के अभाव में प्रगट होनेवाला सिद्ध भगवान का एक अगुरुलघुत्व नामक गुण।

४. नामकर्म की तेरानवे प्रकृतिओं में से एक अगुरुलघु नामक कर्मप्रकृति। इनमें से पहले और दूसरे नं. वाला अगुरुलघुत्व गुण और अगुरुलघुत्व शक्ति तो एक ही है। मात्र इनके स्वरूप वाचक शब्दों में अंतर है, भाव में तनिक भी अंतर नहीं है। षट्स्थान पतित वृद्धि-हानि रूप से परिणमित, स्वरूप-प्रतिष्ठत्व का कारणरूप गुण ही द्रव्यपना टिकाए रखता है। - इस प्रकार ये दोनों तो एक ही हैं।

तीसरे नं. वाला अगुरुलघु गुण अगुरुलघु नामक प्रतिजीवी गुण का परिपूर्ण शुद्ध परिणामन है। यह वास्तव में गुण नहीं है; व्यक्त पर्याय है। परिपूर्ण शुद्ध होने से गुण कहलाती है।

चौथे नं. वाला अगुरुलघु, कार्मण वर्गणा के विशिष्ट परिणामरूप नाम-कर्म की एक प्रकृति का नाम है। जिसके उदय में संसारी जीव का शरीर लोहे के समान अति भारी और रुई के समान अति हल्का नहीं होता है।

इस प्रकार मुख्यरूप से इन चार स्थानों पर अगुरुलघुशब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न २८ : अगुरुलघुत्व गुण का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : अगुरुलघुत्व गुण का स्वरूप समझने से अनेकों लाभ हैं, उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं-

१. इस गुण के कारण द्रव्य का द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता है। जीव, पुद्गल आदि के बीच में अनादिकाल से रहता हुआ भी, उन्हें अपना मानता हुआ भी, वे इसके रंच-मात्र भी नहीं बन सके। - यह समझ में आ जाने पर सुखी होने के लिए विषय-सामग्री, कर्म आदि परपदार्थों से दृष्टि हटकर दृष्टि अपने स्वभाव-सन्मुख होती है; जिसमें स्थिरता के बल पर जीवन स्वतंत्र, स्वाधीन सुखमय हो जाता है।

२. इसी समझ के बल पर मैं पर का कुछ अच्छा-बुरा कर सकता हूँ अथवा पर मेरा कुछ अच्छा-बुरा कर सकते हैं - इत्यादि विपरीत मान्यताएँ नष्ट हो जाती हैं।

३. एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता है अर्थात् एक गुण दूसरे गुण का कुछ भी नहीं कर सकता है।—यह समझ में आ जाने पर किन्हीं ज्ञानी धर्मात्मा जीव के चारित्र गुण का विशिष्ट विकास न होने पर उनके ज्ञान या श्रद्धान में ही शंका, आक्षेप आदि करने का भाव नष्ट हो जाता है; जिससे ज्ञानी गुरुओं, धर्मात्माओं की विराधना संबंधी महापाप से बच जाते हैं।

४. इसी आधार पर किसी के विशिष्ट ज्ञान या चारित्र आदि को देखकर उसे धर्मात्मा माननेरूप गृहीत मिथ्यात्व से भी बच जाते हैं। संयोगी भावों से धर्म का निर्णय न कर सम्यक्तरत्रयरूप परिणामों से ही धर्म का निर्णय करने की वृत्ति जागृत होती है।

५. प्रायः लोक में यह देखा जाता है कि किसी वस्तु का समय पर उपयोग न करने से वह निरुपयोगी या नष्ट-प्राय हो जाती है। इसी के अनुसार यदि हमने भी अपना वैभव प्रगट नहीं किया तो वह भी निरुपयोगी या नष्ट-प्राय हो जाएगा—ऐसी शंका उत्पन्न होने पर यह अगुरुलघुत्व गुण उसका समाधान करता है। यह बताता है कि कभी भी द्रव्य में रहनेवाले अनंत गुण बिखर कर पृथक् नहीं होते हैं/नष्ट नहीं होते हैं; हम उनका उपयोग करें या न करें। यह समझ में आ जाने पर द्रव्य के वैभव की महिमा जागृत होती है, जिससे परपदार्थों की महिमा नष्ट होकर अपने स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ जागृत होता है।

६. जब एक ही द्रव्य में रहनेवाले गुण आपस में एक-दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकते हैं, तब अन्य द्रव्य या उनके गुण हमारा कुछ भी कैसे कर सकते हैं?—यह समझ में आ जाने पर परमुखापेक्षी वृत्ति, संयोगों में सुख माननेरूप मिथ्या मान्यता नष्ट हो जाती है तथा अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ अगुरुलघुत्व गुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २९ : प्रदेशत्व/प्रदेशवत्त्व गुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसे प्रदेशत्व/प्रदेशवत्त्व गुण कहते हैं। प्रदेश=क्षेत्र, वत्=वाला, त्व=भाव। प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वक्षेत्र है। उसका विशिष्ट आकार जिसके कारण रहता है, वह प्रदेशवत्त्व गुण है।

प्रश्न ३० : प्रदेशवत्त्व गुण का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : प्रदेशवत्त्व गुण का स्वरूप समझने से अनेकों लाभ हैं। उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. इस गुण के कारण प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई अपना स्वतंत्र आकार अवश्य होता है, उस आकार का खंडित होना किसी भी कीमत पर शक्य नहीं है, आकार खंडित हुए बिना उसमें प्रवेश कर पाना संभव नहीं है, प्रवेश किए बिना उसमें कुछ भी कर पाना संभव नहीं है। यह समझ में आ जाने पर अपना वैभव कोई छिन न ले इत्यादि चिंताएँ नष्ट होकर अपने वैभव की महिमा जागृत होती है; जिससे सर्व परपदार्थों से दृष्टि हटकर स्वरूप-स्थिरता हो जाती है।

२. इसी समझ के बल पर करने-धरने की चिंताएँ नष्ट होकर सहज अकर्तृत्वभाव प्रगट हो जाता है। कोई मेरा भला-बुरा कर देगा—इस विचार से होने वाला भय आदि नष्ट हो जाता है। जीवन सहज निर्भय, निश्चित हो जाता है।

३. यद्यपि सभी द्रव्यों के प्रदेश एक समान नहीं हैं; तथापि सभी में गुण समान हैं अर्थात् आकार की हीनाधिकता से कोई छोटा-बड़ा नहीं होता है।—यह समझ में आ जाने पर द्रव्य के छोटे-बड़े आकार को देखकर हीनता-दीनता या घमंड आदि के भाव उत्पन्न नहीं होते। सभी आकारों से दृष्टि हटाकर अनाकार ज्ञानानंदस्वभाव में दृष्टिलगाने से जीवन सहज समतामय हो जाता है।

४. इसी आधार पर आकार-प्रकार की मुग्धता नष्ट हो जाने से उन्हें हीनाधिक करने की भावना से होने वाले समय, शक्ति, धन के अपव्यय से हम बच जाते हैं तथा अभक्ष्य-भक्षण आदि पापों से भी बचकर जीवन सहज शुद्ध सात्त्विक हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ प्रदेशवत्त्व गुण का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ३१ : अस्तित्व आदि गुणों के कारण पदार्थों को क्या-क्या कहते हैं?

उत्तर : अस्तित्व गुण की मुख्यता से पदार्थ को 'सत्', वस्तुत्व गुण की मुख्यता से 'वस्तु', द्रव्यत्व गुण की मुख्यता से 'द्रव्य', प्रमेयत्व गुण की मुख्यता से 'प्रमेय' कहते हैं।

प्रश्न ३२ : अस्तित्व, वस्तुत्व और द्रव्यत्व गुण में क्या अंतर है ?

उत्तर : अस्तित्व गुण के कारण पदार्थ की सत्ता अनादि-अनंत रहती है; वस्तुत्व गुण के कारण वह सत्ता कभी भी व्यर्थ नहीं होती है, सदा सार्थक, उपयोगी रहती है; द्रव्यत्व गुण के कारण वह सतत बदलती रहती है, कभी भी एक समान नहीं रहती है।—यही इन तीनों में अंतर है।

प्रश्न ३३ : विशेष गुण कौन-कौन से हैं?

उत्तर : विशेष गुण जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत हैं; पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि अनंत हैं; धर्मद्रव्य के गतिहेतुत्व आदि अनंत हैं; अधर्मद्रव्य के स्थितिहेतुत्व आदि अनंत हैं; आकाशद्रव्य के अवगाहन-हेतुत्व आदि अनंत हैं; कालद्रव्य के परिणामनहेतुत्व आदि अनंत हैं।

प्रश्न ३४ : द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर : पहले इन तीनों के पृथक्-पृथक् लाभों की चर्चा कर आए हैं। संक्षेप में तीनों का स्वरूप समझने से निम्नलिखित लाभ हैं—

१. गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। हम भी एक द्रव्य हैं अर्थात् हम भी गुणों के समूह हैं, अवगुणों के समूह नहीं हैं। अवगुण तो स्वयं को गुणों का समूहरूप द्रव्य न जानने, न मानने से उत्पन्न हुए हैं। यह समझ में आ जाने पर जब ध्रुव द्रव्य को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें स्थिरता होती है, तो अवगुण भी नष्ट होकर पर्यायों भी सर्व-गुण-सम्पन्न हो जाती हैं।

२. हम गुणों के समूह अर्थात् अनंतानंत गुणों, शक्तिओं, वैभवों के अखण्ड पिण्ड हैं।—यह समझ में आ जाने पर दीनता, हीनता, पामरता आदि नष्ट होकर, अपनी महिमा के बल पर स्वरूप-स्थिरता का पुरुषार्थ जागृत होता है; जिससे जीवन निराकुल सुख-शांतिमय हो जाता है।

३. विश्व का प्रत्येक द्रव्य हमारे समान ही अनंत-वैभव सम्पन्न है, कोई छोटा-बड़ा नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर घमण्ड आदि तथा दूसरों को तुच्छ देखने, अपमानित करने का भाव नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

४. अपने में भी अस्तित्व गुण होने के कारण, अपना कोई नाश नहीं कर सकता है।—यह समझ में आ जाने पर सहज ही अनंत निर्भयता प्रगट हो जाती है।

५. पर्याय का स्वरूप समझ में आ जाने से काम करने की चिंता नष्ट हो जाती है, जिससे जीवन सहज निर्भार, निराकुल सुखमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

○○○

जो शक्ति स्वयं में नहीं है, उसे अन्य के द्वारा अपने में किया जाना असम्भव है। वस्तु की शक्ति आँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती हैं।

पाठ ७

भगवान नेमिनाथ

प्रश्न १ : भगवान नेमिनाथ का जीवन-परिचय अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर : वास्तव में कोई भी जीव जन्म से भगवान नहीं होता है, जन्म के समय तो सभी बालक ही होते हैं। जो जीव उसी भव में तीर्थकर होने वाले होते हैं, उन्हें गर्भ के समय से ही उपचार से तीर्थकर कह दिया जाता है। इसी उपचार के बल पर तीर्थकर गर्भ में आए, तीर्थकर का जन्म हुआ, तीर्थकर ने दीक्षा ली इत्यादि व्यवहार लोक में प्रचलित हैं। वास्तव में तीर्थकर तो वे आत्मसाधना की पूर्णता होने पर वीतरागी, सर्वज्ञ अवस्थामय तेरहवें गुणस्थान में होते हैं।

बालक नेमिनाथ का जन्म शौरीपुर के राजा समुद्रविजय और रानी शिवा-देवी के यहाँ हुआ था। आप श्रीकृष्ण के चचेरे भाई तथा इस युग के बाईसवें तीर्थकर हैं। तीर्थकर बालकों के समान आप भी अतुल्य बल के धनी, शांत, गंभीर, तत्त्वविचारक, आत्मानुभवी, आत्मसाधना में लीन रहनेवाले बालक थे।

जवान होने पर आपकी सगाई जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की कन्या राजुल के साथ निश्चित की गई थी। जब आपकी बारात जूनागढ़ जा रही थी, तब अपने कारण असहाय, मूक पशुओं को रुका हुआ देखकर आपको संसार की असारता, स्वार्थपरता और क्रूरता तीव्रता से भासित होने लगी; जिससे आप संसार, शरीर, भोगोपभोगों से विरक्त हो, बारात छोड़कर; माता-पिता, धन-धान्य, राज्य आदि बाह्य परिग्रह तथा राग-द्वेष आदि अंतर्ग परिग्रह छोड़कर; गिरनार पर्वत पर जाकर नग्न दिगम्बर साधु हो गए।

इसके बाद आप लगातार छप्पन दिन तक सब ओर से अपने उपयोग को हटाकर सतत आत्मस्थिरता का पुरुषार्थ करते रहे। इसी पुरुषार्थ के फलस्वरूप छप्पनवें दिन पूर्ण स्वरूप-स्थिरता की स्थिति में आप केवलज्ञानी हो गए। देवों ने आकर समवसरण की रचना की, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण भारतवर्ष में विहार करते हुए लगभग सात सौ वर्ष तक दिव्यध्वनि द्वारा आपका तत्त्वो-पदेश होता रहा। एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण होने पर गिरनार पर्वत से आपका निर्वाण हो गया। आप तीर्थकर अरहंत परमेष्ठी से अव्याबाध सुखी, अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी हो गए।

प्रश्न २ : राजुल का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर : राजुल जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की तत्त्वनिष्ठ राजकुमारी थी। उसकी सगाई राजकुमार नेमिनाथ के साथ हो गई थी; परन्तु बारात लेकर आते समय बीच में ही वैराग्य आ जाने पर राजकुमार नेमिनाथ ने दीक्षा ले ली; यह समाचार सुनकर राजुल को भी वैराग्य हो गया; उन्होंने भी संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर आर्यिका दीक्षा धारण कर ली। सतत आत्मसाधना में लीन रहते हुए मुनिराज नेमिनाथ के भगवान बनने के बाद आर्यिका राजुल भी उनके समवसरण में प्रमुख गणिनी हो गई। आयु के अंत में सल्लेखनापूर्वक देह छोड़कर, स्त्री पर्याय का विच्छेद कर, स्वर्ग में देव हुई।

प्रश्न ३ : शादी के लिए निकले नेमिनाथ का दीक्षित होना; उससे राजुल का भी दीक्षित हो जाना, आपकी दृष्टि में कैसा रहा?

उत्तर : वास्तव में रागभाव छोड़कर वीतरागता की ओर बढ़ना सब ओर से उत्तम ही है। फिर भी विचार करें कि यदि मान लो राजकुमार नेमिनाथ शादी करा भी लेते तो उनकी गृहस्थी कितने दिन चल पाती? बारात जाने के दिन से छप्पनवें दिन में तो वे वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान ही बन गए। — इस प्रकार दोनों का दीक्षित हो जाना दोनों के लिए श्रेयस्कर ही रहा। दोनों ही विषय-वासना रूपी आग की दाह से बचकर बालब्रम्हचारी रहकर ब्रम्हस्वरूप अपने आत्मा की साधना में लग गए, सांसारिक आकुलताओं से बच गए। इस प्रकार दोनों की ही दीक्षा हमारी दृष्टि से आत्महितकारक, श्रेयस्कर ही रही।

प्रश्न ४ : गिरनारजी सिद्धक्षेत्र की संक्षिप्त जानकारी दीजिए।

उत्तर : गिरनारजी सिद्धक्षेत्र सौराष्ट्र प्रांत के जूनागढ़ नगर के समीप स्थित एक विशालकाय पर्वत है। इसका दूसरा नाम ऊर्जयन्तगिरि भी है। यह भगवान नेमिनाथ की दीक्षाभूमि, तपोभूमि, केवलज्ञानभूमि और निर्वाणभूमि है। इसके अतिरिक्त आर्यिका राजुल/राजमती की दीक्षा व तपोभूमि भी है। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार, शम्बूकुमार आदि की भी यह सिद्धभूमि है। — इस प्रकार सम्मेशिखरजी के समान गिरनार पर्वत भी निर्वाणभूमि है।

आचार्य धरसेन ने प्रथम श्रुतस्कंधरूप षट्खण्डागम का ज्ञान मुनिराज पुष्पदंत और भूतबली को इसी पवित्र पर्वत की गुफाओं में दिया था। उनका साधना तथा समाधिस्थल भी यही पवित्र पर्वतराज है।

इत्यादि अनेक कारणों से सम्पूर्ण जैनसमाज इसे आज भी भक्तिभावपूर्वक आदर से पूज्य/वंदनीय मानता है।

प्रश्न ५ : नेमिनाथ के लिए पशुओं के बंधन का वास्तविक रहस्य क्या है?

उत्तर : अज्ञानता के कारण लोक में यह फैलाया जा रहा है कि राजकुमार नेमिनाथ की बारात में आए यादववंशी राजाओं को माँसाहार देने के लिए पशुओं को बाँधा गया था; परन्तु यह बात पूर्णतया आगम-विरुद्ध होने के साथ-साथ तर्क और युक्ति-विरुद्ध भी है; कारण कि जिनके गर्भ और जन्म दो कल्याणक सम्पन्न हो गए हैं, जो तीन ज्ञान के धारी हैं, जिनकी सम्पूर्ण व्यवस्था इंद्र करता है, जो अतुल्यबल सम्पन्न हैं, उन महापुरुष का पुण्य प्रताप इतना अधिक होता है कि उनके सान्निध्य में अभक्ष्यभक्षण की संभावना ही नहीं की जा सकती है। उनके सम्पर्क में रहनेवाले व्यक्ति दयालु, अन्याय-अनीति-अभक्ष्य से दूर रहनेवाले, धार्मिक, आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न, तत्त्व-प्रेमी होते हैं।

वस्तुतः परिस्थिति यह थी कि जैसे किसी नेता आदि के आगमन पर सहज ही सड़क का यातायात सुव्यवस्थित और निर्विघ्न करने के लिए उसके दोनों ओर बल्लियाँ बाँध दी जाती हैं; उसी प्रकार राजकुमार नेमिनाथ की विशालकाय बारात को निकलने के लिए सड़कों को सुव्यवस्थित और पशुओं आदि से निर्विघ्न करने के लिए उनके दोनों ओर बल्लियाँ बाँध दी गई थीं; जिसके कारण पशुओं का आना-जाना रुक जाने से वे चिल्ला रहे थे। दयार्द्र हृदयी राजकुमार नेमिनाथ उनकी चिल्लाहट को सुनकर करुणा-विगलित हो गए। मानव की स्वार्थपरता ज्ञान में आने से, रागतंतु टूट जाने के कारण उन्हें वैराग्य हो गया। वे विषय-भोगों के रागादि से विरक्त हो, आत्मस्वभावतः दिगम्बर मुनि हो गए।

प्रश्न ६ : 'भगवान नेमिनाथ अपनी पत्नी राजुल को बिलखती हुई छोड़कर चले गए थे' क्या यह सच है? यदि नहीं, तो लोग ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तर : भगवान नेमिनाथ का नाम पाँच बालब्रम्हचारी तीर्थकरों में आता है। उनकी शादी भी नहीं हुई थी, इसलिए पत्नी को छोड़कर जाने का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है; तथापि लोगों के ऐसा कहने का कारण यह है कि नेमिकुमार जब राजकुमार थे तब उनकी सगाई जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की

कन्या राजुल के साथ हो गई थी। बारात जाते समय मार्ग में असहाय, मूक पशुओं का क्रंदन सुनकर संसार के स्वार्थीपन और क्रूरता की ओर उनका ध्यान गया और वे तत्काल संसार व विषय-भोगों से विरक्त हो गए। वे आत्मज्ञानी तो थे ही; उसी समय बारात छोड़कर माता-पिता, धन-धान्य राज्य इत्यादि सम्पूर्ण बाह्य परिग्रह और राग-द्वेष आदि अंतरंग परिग्रह छोड़कर नग्न दिगम्बर साधु हो गए।

इसप्रकार सगाई हो जाने के कारण तथा दूल्हा बनकर जूनागढ़ तक आ जाने के कारण लोग ऐसा कहने लगे।

○○○

श्री नेमिनाथ स्तवन

रोम-रोम में नेमिकुंवर के उपशम रस की धारा।...
 राग-द्वेष के बन्धन तोड़े, वेश दिगम्बर धारा!!!
 ब्याह करन को आये, संग बाराती लाए।
 पशुओं को बन्धन में देखा, दया सिंधु लहराए।
 धिक्-धिक्जग की स्वार्थवृत्ति, कहीं न सुख लगाए।१॥
 राजुल अति अकुलाए, नौ भव की याद दिलाए।
 नेमि कहें जग में न किसी का, कोई कभी हो पाए।
 रागरूप अंगारों द्वारा, जलता है जग सारा ॥२॥
 नौ भव का सुमिरण कर नेमी, आतम-तत्त्व विचारें।
 शाश्वत ध्रुव चैतन्यराज की, महिमा चित्त में धारें ॥
 लहराता वैराग्य सिन्धु अब, भाएं भावना बारा ॥३॥
 राजुल के प्रति राग तजा है, मुक्ति वधू को ब्याहें।
 नग्न दिगम्बर दीक्षा धरकर, आतम ध्यान लगावें ॥
 भव बन्धन का नाश करेंगे, पावें सुख अपारा ॥४॥

ब्रह्ममय परिणति के हो धारक प्रभु, नेमि जिनवर नमन भाव से नित करूँ।
 जग में वैराग्य अनुपम विभो आपका, आप-सा ही दयाभाव चित्त में धरूँ ॥१॥
 होके भोगों में अंधा भटकता फिरा, घात निज-पर का करता रहा हर्ष धर।
 आपके दर्श कर दृष्टि सम्यक् मिली, मेरा चैतन्य चिद्रूप आया नजर ॥२॥
 हे प्रभो! भावना आपको ध्याय कर, आप ही आप-सा आत्म योगी बनूँ।
 तज के किंयाक फल सम विषय भोग मैं, आत्मवैभव का स्वाधीन भोगी बनूँ ॥३॥
 चाहे अनुकूलता हो या प्रतिकूलता, होवे समतामयी नाथ परिणति मेरी।
 भवरहित भाव चैतन्य में लीन हो, हे प्रभो अब मिटे मेरी भव-भव फेरी ॥४॥

पाठ ८

जिनवाणी स्तुति

वीर हिमाचलतैं निकसी, गुरु गौतम के मुख कुंड ढरी है।
 मोह महाचल भेद चली, जग की जड़तातप दूर करी है॥
 ज्ञान पयोनिधि माँहि रली, बहु भंग तरंगनिसौं उछरी है।
 ता शुचि शारद गंग नदी प्रति, मैं अंजुलि कर शीश धरी है ॥१॥
 या जगमंदिर में अनिवार, अज्ञान अंधेर छयो अति भारी।
 श्री जिन की धुनि दीपशिखा सम, जो नहीं होत प्रकाशन-हारी ॥
 तो किस भाँति पदारथ पाँति, कहाँ लहते रहते अविचारी।
 या विधि संत कहें धनि हैं, धनि हैं जिन वैन बड़े उपगारी ॥२॥

प्रश्न: जिनवाणी स्तुति का अर्थ बताइए।

उत्तर: यह जिनवाणी स्तुति कविवर भूधरदासजी द्वारा लिखी गई है। उन्होंने इसमें जिनवाणी को गंगा और दीपशिखा/दीपक की लौ की उपमा देते हुए उनका गुणगान किया है। गंगा नदी सम्पूर्ण विश्व की प्रसिद्धतम नदियों में से एक है। जड़ी-बूटियों के भंडार, हिम के आलय/हिमालय पर्वत से निकलने के कारण इसका जल सदा शीतल, निर्मल, स्वच्छ, स्वास्थ्यवर्धक, रोगनाशक, धन-धान्य समृद्धिकारक है; इसी प्रकार जिनवाणी भी अत्यंत शीतल, जगत के संताप को नष्ट कर प्राणीमात्र को सुख-समृद्धिमय करनेवाली हैं; अतः इन्हें गंगा की उपमा दी गई है।

जिस प्रकार गंगा नदी हिमालय पर्वत से निकलकर गौतमकुंड में गिरकर, अनेकानेक विशाल चट्टानों को तोड़ती-फोड़ती, जीवों को शीतल जल प्रदान करती हुई, विविध तरंगों से तरंगित होती हुई बंगाल की खाड़ी में जाकर गिरती है; उसी प्रकार जिनवाणीरूपी ज्ञान गंगा भगवान महावीररूपी हिमालय पर्वत से निकलकर गौतमगणधररूपी गौतमकुण्ड में गिरीं। वहाँ से मोहरूपी विशाल पर्वतों, चट्टानों को नष्ट-भ्रष्ट करती हुई, जगत की जड़ता (अज्ञानता) रूपी आतप (गर्मी) को दूर करती हुई, ज्ञानरूपी समुद्र में जा मिलती हैं। उसमें सप्तभंगी रूपी विविध तरंगें सतत उठती रहती हैं, जिससे उसका जल अर्थात् जिनवाणी का कथन महा पवित्र प्रामाणिक बना रहता है। ऐसी पवित्रतम

जिनवाणीरूपी ज्ञान गंगा के जल को मैं अंजुलि से सिर पर धारण करता हूँ अर्थात् अति भक्तिभाव पूर्वक नमस्कार करके, अनंत बहुमान के साथ इसके स्वाध्याय, चिंतन, मनन आदि के माध्यम से आत्मस्वरूप को जानकर, पहिचानकर, इसमें ही लीन रहता हूँ।

दूसरे छंद में कविवर भूधरदासजी जिनवाणी को दीपक की प्रकाशमान ज्योति की उपमा देते हैं। जैसे दीपशिखा अर्थात् प्रकाशमान ज्योति घर के अंधकार को नष्ट कर देती है; उसी प्रकार जिनवाणीरूपी दीपशिखा, जगतरूपी घर के अनिवार (जिसे नष्ट करना सरल नहीं है, ऐसे) महाभयंकर अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट कर देती हैं। यदि यह प्रकाश करनेवाली, जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनिरूपी दीपशिखा न होती, तो हम पदार्थों का वास्तविक स्वरूप कैसे समझ पाते? तत्त्वों का विचार कैसे कर पाते? अविचारी अर्थात् विचार न करनेवाले ही बने रहते; अतः संतज्ञानी पुरुष कहते हैं कि हमारा महान उपकार करनेवाली जिनेन्द्र भगवान की वाणी धन्य है, धन्य है!!! ०००

— विद्या वह है ! जो मुक्ति को प्राप्त कराये —

**वर्तमान-शैक्षणिक विषयों का प्रतिनिधित्व करनेवाले हमारे
अनादिअनंत चार अनुयोग**

प्रथमानुयोग— पूर्वजों का इतिहास, त्रिकालवर्ती भविष्यवाणिआँ, संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल— इन सभी परिस्थितिओं में महापुरुषों की प्रवृत्तिआँ, खनन-उत्खनन-पुरातत्त्विय शिक्षण, राजनीतिशास्त्र आदि।

करणानुयोग— गणित, इञ्जीनियरिंग, भौतिक-रसायन शास्त्र, भूगोल, तीनकाल-तीनलोकवर्ती पदार्थों एवं परिणामों का विवेचन आदि।

चरणानुयोग— नागरिकशास्त्र, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, नैतिक शिक्षा, स्वास्थ्य-शरीर-गृहविज्ञान, समाजशास्त्र आदि।

ब्रह्मानुयोग— विज्ञान, न्याय-दर्शन-तर्कशास्त्र, अध्यात्म आदि।

‘आत्म-ज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।

विश्व-शांति का मूल है, वीतराग-विज्ञान ॥’

लेखिका-सम्पादिका की ओर से

किसी भी विषय को गहराई से समझकर उसे जीवन में आत्मसात् करने के लिए उसका क्रमिक पठन-पाठन, अध्ययन आवश्यक होता है। जिन्हें बचपन से ही जैनधर्म के क्रमिक अध्ययन का शुभ अवसर प्राप्त हुआ, वे तो सौभाग्यशाली हैं ही; परन्तु जिन्होंने एक दृष्टि से क्रमिक अध्ययन करने की अवस्था व्यतीत हो जाने पर भी क्रमिक अध्ययन करने की अभिरुचि जागृत की, वे भी कम पुण्यशाली नहीं हैं।

बालकों की दृष्टि से लिखे गए जैनधर्म के पाठ्यक्रम को प्रौढ़ता-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए पढ़ाना वास्तव में एक कष्टसाध्य कार्य है; क्योंकि बालकों को पढ़ाने में तो प्रायः सामान्य से स्पष्टीकरण के बाद उन्हें कण्ठस्थ कराने की मुख्यता रहती है; परन्तु प्रौढ़ इतने से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। इसका अनुभव मुझे विशेषतया तब हुआ, जब 'श्री १००८ शांति-नाथ दिगम्बर जैन वीतराग विज्ञान पाठशाला, अकलूज (सोलापुर, महाराष्ट्र)' में ८ वर्ष के बालक से लेकर ७० वर्ष के वृद्ध तक विद्यार्थी बनकर जैनधर्म के क्रमशः अध्ययन के लिए तत्पर हुए। उनके समक्ष प्रत्येक विषय का विस्तार पूर्वक विश्लेषण करने के बाद उन्हें लिपिबद्ध करा देने के उनके अत्याग्रह ने ही प्रस्तुत पुस्तिका को जन्म दिया है।

प्रस्तुत पुस्तिका में पं. डोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित 'डॉ. पं. हुकमचन्दजी भारिल्ल' द्वारा सम्पादित 'बालबोध-पाठमाला, भाग १-२-३' में समागत लगभग प्रत्येक बिन्दु को तर्क-युक्ति से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। बालकों की दृष्टि से लिपिबद्ध चारों अनुयोगों के समन्वयात्मक अध्ययन के पाठ्यक्रम का प्रतिनिधित्व करने वाले इन भागों की यह विवेचिका-पुस्तिका जन-जन को जैनधर्म, वस्तु-स्वरूप समझने में तथा परिणाम-स्वरूप अन्तर्बाह्य सदाचारमय स्वानुभूति-सम्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जीने की कला सीखने में निमित्त हो; एकमात्र यही उद्देश्य इसे आपको समर्पित करने में रहा है।

प्रस्तुत प्रकाशन के पूर्व समादरणीय 'डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल' ने भी इसे आद्योपान्त देखकर अपने अमूल्य सुझावों से मुझे अनुगृहीत किया है; एतदर्थ मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ। प्रस्तुत प्रकाशन से सभी लाभान्वित हों - यही सद्भावना है।

श्री महावीर निर्वाण-दिवस **ब्र. कल्पना जैन**, सागर, एम.ए., शास्त्री
मंगलवार, २० अक्टूबर १९९८ **ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राजस्थान)**

प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोगदाता विवरण - १११४५/- अ.भा. जैन युवा फैंडेशन शाखा
मेरठ; ११००/- सौ. शशि अजितकुमारजी तोतूका जयपुर; ५००१/- श्री दि. जैन युवा फैंड-
रेशन पुद्दुपुकर कोलकाता, २१००/- श्री प्रबंधकारिणी कमेटी जैन बिरादरी मेरठ; १००१/-
सौ. ज्योति डोलरभाई कामानी कोलकाता; १०००/- श्रीमान सुमेरमल पहाड़िया तिनसुखिया
(आसाम); १०००/- स्व. धापुबाई ताराचंदजी की स्मृति में सुपुत्री भँवरीबाई जयपुर; १०००/-
सौ. कल्पना नीबुम जैन कोलकाता; ६००/- सौ. पानादेवी मोहनलालजी सेठी जयपुर; ६००/-
स्व. उमरावदेवी मिश्रीलालजी की स्मृति में सुरेशकुमार बाकलीवाल गोहाटी; ६००/- स्व.
नेमिचन्द पहाड़िया की स्मृति में श्रीमती सुलोचनादेवी गोहाटी; ६००/- स्व. सोहनीदेवी तनसुख
लालजी की स्मृति में सम्पतलालजी पाटनी जयपुर; ५००/- सौ. पुष्पा चक्रेशकुमारजी जैन
सागर; ५००/- सौ. कनुप्रिया नितिनकुमार जैन डोंबिवली।

विषयानुक्रमणिका

बालबोध विवेचिका भाग १ - १ से ३३ पृष्ठ तक

पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या	पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या
१.	गमोकारमंत्र	१ से ७	५.	जीव-अजीव	२१ से २३
२.	चारमंगल	८ से १२	६.	दिनचर्या	२४ से २९
३.	तीर्थंकर भगवान	१३ से १६	७.	भगवान आदिनाथ	३० से ३२
४.	देवदर्शन	१७ से २०	८.	मेरा धाम	३३

बालबोध विवेचिका भाग २ - ३४ से ७१ पृष्ठ तक

पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या	पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या
१.	देवस्तुति	३४ से ३८	५.	गति	४९ से ५३
२.	पाप	३९ से ४३	६.	द्रव्य	५४ से ६३
३.	कषाय	४४ से ४६	७.	भगवान महावीर	६४ से ६८
४.	सदाचार	४७ से ४८	८.	जिनवाणीस्तुति	६९ से ७१

बालबोध विवेचिका भाग ३ - ७२ से १२८ पृष्ठ तक

पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या	पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या
१.	देवदर्शन	७२ से ७६	५.	सदाचार	१०० से १०३
२.	पंचपरमेष्ठी	७७ से ८८	६.	द्रव्य-गुण-पर्याय	१०४ से १२२
३.	श्रावककेअष्टमूलगुण	८९ से ९३	७.	भगवान नेमिनाथ	१२३ से १२६
४.	इन्द्रियाँ	९४ से ९९	८.	जिनवाणीस्तुति	१२७-१२८

पृष्ठपूर्ति के लिए प्रयुक्त वाक्यों और पद्यों की सूची

अरहन्त सिद्ध.....	७	देख तेरी पर्याय.....	५३
आतमहित ही.....	१२	हे वीरनाथ तुम.....	६८
है यही कामना.....	२०	धन्य धन्य जिनवाणी.....	७१
रे जीव! तू अपना.....	२३	आतमज्ञान लहें सुख.....	९९
अच्छे बच्चे जो.....	२९	आतम अनुभव सार.....	९९
आदीश्वर स्वामी.....	३२	ऐसा नरभव पाय.....	१०३
तीन भुवन के स्वामी.....	३८	जो शक्ति स्वयं में.....	१२२
परमगुरु बरसत.....	४३	रोम रोम में नेमि.....	१२६
ज्यों मतिहीन.....	४६	ब्रह्ममय परिणति के.....	१२६
अपने दोषों के कारण.....	४८	वर्तमान शैक्षणिक.....	१२८

D
PP
D

D
सा विद्या या विमुक्तये
बालबोध विवेचिका
भाग १, २, ३

लेखिका-सम्पादिका :

बा. ब्र. कल्पना जैन सागर, एम.ए., शास्त्री
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

प्रकाशक :

अ. भा. जैन युवा फैडरेशन,
जैन नगर, न्यू उस्मानपुर, दिल्ली

पुस्तक प्राप्ति स्थान -

१. अ.भा. जैन युवा फैडरेशन, जैन नगर,
न्यू उस्मानपुर, नई दिल्ली
२. दिनेश जैन/देशना कम्प्यूटर्स, मंगलधाम,
डी-१०३, ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५
मो. ९३१४६४००४८
३. श्री वीतराग-विज्ञान प्रभावना मंडल
१३३/७१, एम ब्लॉक, किदवई नगर
कानपुर-११ (उ.प्र.)

प्रथम आवृत्ति : ५००० प्रति
द्वितीय आवृत्ति : ५००० प्रति
तृतीय आवृत्ति : ५००० प्रति

प्रकाशन तिथि : ऋषभ जयन्ती
(१३ मार्च, २००७)
न्योछावर राशि : १५ रुपये

D
PP
D